श्रीमरुधर केसरी साहित्यमाला का २५वां पुष्प

पुस्तक कर्मग्रन्थ [प्रथम भाग]

सम्प्रेरक विद्याविनोदी श्री सुकन मुनि जी

प्रकाशक श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार
ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति वीरनिर्वाण स०-२५००
[२५वी निर्वाण शताब्दी वर्ष]
वि० स० २०३१ कार्तिक पूनम
ई० सन् १९७४ नवम्बर

मुद्रक श्रीचद सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

मूल्य १०) दस रुपये मात्र



जैन दर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्म सिद्धान्त।' यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा। और आत्मा की विविध दशाओ, स्वरूपो का विवेचन एव उसके परिवर्तनो का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त।' इसलिये जैन दर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थो मे 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ (भाग १ से ६) अपना विशिष्ट महत्व रखता है। जैन साहित्य मे इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्त्व जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थ को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एव स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थ की सस्कृत टीकाए बडी महत्वपूर्ण हैं। इसके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी मे कर्मग्रन्थ का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद वरेण्य मनीपी प्रवर महाप्राज्ञ प० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एव विद्वत्ताप्रधान है। प० सुखलालजी का विवेचन आज प्राय दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थ का आधुनिक शैली मे सरल विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एव निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बडी गति के साथ आगे बढता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय मे आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस सपादन कार्य मे जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखको, टीकाकारो, विवेचन कर्त्ताओ तथा विशेषत प० सुखलाल जी के ग्रन्थो का मुझे सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानो का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एव श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एव साहित्यसमिति के अधिकारियो का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सपादन-प्रकाशन मे गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करू—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और, हस-बुद्धि पाठको से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेगे। भूल सुधार एव प्रमाद परिहार मे सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते है। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

श्रीचन्द सुराना



गुरुदेव मरुधर केसरी प्रवर्तक
मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन ममिति के विभिन्न उद्देश्यो मे एक प्रमुख एव रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एव दर्शन से सम्वन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। सस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुवर केसरीजी म० स्वय एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ है और उन्ही के मार्गदर्शन मे सस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तिया चल रही है। गुरुदेव श्री साहित्य के मर्मज्ञ भी है, अनुरागी भी है। उनकी प्रेरणा से अव तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थो का प्रकाशन किया है। अव विद्वानो एव तत्त्वजिज्ञासु पाठको के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे है।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रन्थ हैं। इसके छह भागो मे जैन तत्त्व-ज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन मे प्रसिद्ध लेखक-सपादक श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना एव उनके सहयोगी श्री देव कुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजत-मुनि जी एव विद्याविनोदी श्री मुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे श्रीमान जोधराजजी सुराना ने उदार अर्थ सहयोग प्रदान कर हमारा उत्साह वढाया है। हम सभी विद्वानो, मुनिवरो, एव सहयोगी उदार गृहस्थो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि अतिशीघ्र क्रमश छहो भागो मे हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करेंगे।

विनीत

मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

आमुख

जैनदर्शन के सपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वय मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान वनकर अशुद्ध दशा मे ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र मे पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी दरिद्र के रूप मे ससार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को ससार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। **कम्म च जाई मरणस्स मूल**— भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरश सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्व वैचित्र्य एव सुख-दुख का कारण जहा ईश्वर को माना है, वहा जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुख एव विश्व वैचित्र्य का कारण मूलत जीव एव उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप मे कोई शक्ति नहीं है, वह स्वय मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेष वश-वर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान और शक्ति सपन्न वन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने वधन मे वाध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की वडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का यह मुख्य वीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह वडा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन मे कर्म का वहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यत गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भापा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्वोध है। थोकडो मे कर्म सिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूथा है, जो कठस्थ करने पर साधारण तत्त्व जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्म सिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थो मे कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवन्द्रसूरि रचित इसके छह भाग अत्यत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमे जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे है और इसकी सस्कृत मे अनेक टीकाए भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा मे इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी प० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान मे कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली मे भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एव श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढग से विवेचन एव प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एव महास्थविर सत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एव व्यय साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेव का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक सस्थाओ व कार्यक्रमो का आयोजन। व्यस्त जीवन मे भी आप १०-१२ घटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि मे लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे वढाने का सकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भापा-शैली आदि दृष्टियो से सुन्दर एव रुचिकर वनाने तथा फुटनोट, आगमो के उद्धरण सकलन, भूमिका लेखन आदि

कार्यों का दयित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी नुराना को सौंपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एव विचारो से अतिनिकट सपर्क मे है। गुरुदेव के निर्देशन मे उन्होने अत्यविक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इम विवेचन मे एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। माथ ही समाज को एक मास्कृतिक एव दार्शनिक निधि नये रूप मे मिल रही है यह अत्यधिक प्रसन्नता की वात है।

मुझे इम विषय मे विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा सपादक वन्धुओं को इसकी सपूर्ति के लिए ममय-समय पर प्रेरित करता रहा। यह प्रथम भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

—सुकन मुनि

श्रीमान जोधराज जी सुराना

परिचय

सोजतसिटी के निवासी श्रीमान् जेंवतराज जी सुराणा के सुपुत्र श्री हीराचन्द जी तथा उनके सुपुत्र श्री वछराज जी सुराणा थे। उनके पांच पुत्रो मे वडे पुत्र श्री जोधराज जी साहव सुराणा हैं। आपका जन्म स० १९८५ के फाल्गुन कृष्णा ९ को हुआ। आप प्रकृति के वडे सरल, विनीत, जन सहयोगी और दयालु स्वभाव के है। आपने अपने हाथो से सैलम (तामिलनाडु) मे जाकर कारोबार वढाया और लक्ष्मी उपार्जन की। जिसका समय-समय पर आपने अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों मे सदुपयोग किया है और कर रहे हैं। भाइयो के साथ भी प्रेम पूर्ण व्यवहार है। मातृभक्ति के लिये भी आप प्रसिद्ध है। गुरुदेव की आज्ञा भी पूर्ण प्रेम से ग्रहण करते है। आपने स्कूल, छात्रालय, औषधालय तथा साहित्य प्रकाशन मे काफी सहयोग दिया है। सैलम में दुष्काल के समय मे भी आपने मनुष्यो व पशुओ की सेवा काफी अच्छे ढग से की है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पारवती वाई भी गृह कार्य मे निपुण, श्रद्धालु, सुशील एव वडे श्रेष्ठ स्वभाव की हैं और धर्म भावना मे हरदम तैयार रहती हैं।

आप पाली चातुर्मास मे पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० रत्न मुनि श्री १००८ श्री मिश्रीमल जी म० सा० की सेवा मे आये। तहेदिल से सेवा की और दर्शन की खुशाली मे श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति जोधपुर-व्यावर के द्वारा श्री कर्मग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है—उसमे प्रथम भाग के प्रकाशन का समग्र भार आपने लिया है। सौभाग्य से आपकी माता जी भी विद्यमान हैं और आपके भ्राता सर्वश्री सम्पतराज जी, शुभराज जी, मदनराज जी, डूगरमल जी आदि भी वडे सुयोग्य और वडे भ्राता के अनुशासन मे चलते है। आपका कारोवार सोजत-पाली व सैलम (तामिलनाडु) मे है।

श्रीमान् सुराणा जी ने जिस तरह उदार वृत्ति से लाभ लिया है, वैसे ही सदैव लेते रहे और यशस्वी बनें—यही शासनेश से प्रार्थना है।

सैलम (तामिलनाडु) मे सुराणा जी का कारोबार निम्न नाम से है —

विनीत
मानमल चोरडिया
मन्त्री
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
जोधपुर, ब्यावर

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

परिशिष्ट

प्र स्ता व ना

कर्मसिद्धान्त का पर्यालोचन

जगत् के मूल पदार्थ

दृश्यमान जगत् मे दो प्रकार के पदार्थ दृष्टिगोचर होते है। दोनो का अपना-अपना अस्तित्व, गुण-धर्म और निजी प्रक्रिया है। उनमे से एक प्रकार के पदार्थ तो वे है, जिनमे इच्छाएँ है, भावनाएँ हैं, ज्ञान है एव सुख-दुख का सवेदन होता है और दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनमे प्रथम प्रकार के बताये गये पदार्थों की कोई प्रक्रिया नही होती है। विज्ञान की भाषा मे प्रथम प्रकार के पदार्थों को सचेतन (जीव) और दूसरे प्रकार के पदार्थों को अचेतन (अजीव, जड, भौतिक) कहा जाता है।

प्रत्येक तत्त्वचिन्तक ने दोनो के गुण-धर्मों की भिन्नता से दोनो प्रकार के पदार्थो के अस्तित्व को स्वीकार किया है। सम्भवत नामो मे विभिन्नता हो सकती है। जैन दर्शन मे सचेतन पदार्थो के लिए जीव, आत्मा या चेतन और अचेतन पदार्थो के लिए अजीव कहा है। जीव की क्रिया मे जीव स्वय भावात्मक और क्रियात्मक पुरुषार्थ करता है, जबकि अजीव पदार्थों की क्रिया प्रकृति से होती रहती है। उनकी क्रिया मे उनका अपना निजी पुरुषार्थ या प्रयत्न नही होता है। यही अन्तर उन दोनो को पृथक्-पृथक् सिद्ध करता है।

विकार का कारण

प्रत्येक पदार्थ के जब अपने-अपने गुण-धर्म है, तब फिर इनमे विकार, विभिन्नता और विचित्रता दिखने का कारण क्या है? हम अजीव अथवा अजीव-मिश्रित जीव को ही देखते है। दोनो का शुद्ध रूप तो हमे दृष्टिगोचर नही होता है। यह एक प्रश्न है, जिसका प्रत्येक तत्त्वचिन्तक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

प्रत्येक पदार्थ का निजी स्वभाव और उनसे मेल खाने वाली क्रिया तथा समान गुण-धर्म वाला पदार्थ सजातीय कहलाता है तथा उस पदार्थ के स्वभाव से भिन्न या विपरीत स्वभाव, क्रिया वाला पदार्थ विजातीय कहा जाता है। जब समान गुण-धर्म वाले पदार्थों का संयोग होता है, तब कोई विकार पैदा नही होता, परन्तु विरुद्ध गुण-धर्म वाले पदार्थों के मिलते ही उनमें विकार पैदा हो जाता है और वे विकृत कहलाते हैं। विज्ञान और चिकित्साशास्त्र द्वारा यह स्पष्टत देखा जा सकता है। विजातीय पदार्थ के संयोग से होने वाली क्रिया की प्रतिक्रिया सहज मे ही दिखलाई देती है।

निर्जीव पदार्थों मे भी विजातीय द्रव्य के मिलने से विकार तो उत्पन्न होता है, परन्तु वे अपनी ओर से प्रतिक्रिया करने का यत्न नही करते हैं। उनकी क्रिया प्राकृतिक नियमानुसार स्वत होती रहती है, परन्तु सजीव द्रव्य मे यह विशेषता है कि वह विजातीय पदार्थ का संयोग करते हुए भी उस विजातीय द्रव्य के संयोग को सहन नहीं करता है और उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपने संयोग से सचेतन-सी बनी हुई इन्द्रियो आदि के संयोग मे आई हुई विजातीय वस्तुओ को दूर करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है और जब तक वह विजातीय पदार्थ दूर नही हो जाता, तब तक उसे चैन नही पडता। तात्पर्य यह है कि सजीव विजातीय द्रव्य के संयोग से विकार ग्रस्त होता है और विजातीय द्रव्य का संयोग ही विकार का जनक है।

इस कथन का सैद्धान्तिक फलितार्थ यह है कि जीव के लिए अजीव विजातीय पदार्थ है और जब जीव के साथ अजीव का संयोग होता है तो जीव मे विकार उत्पन्न होता है। जीव के साथ अजीव का संयोग और तज्जन्य कार्य को दार्शनिक शब्दो मे कर्म या इसके समानार्थक शब्दो मे कह सकते हैं।

कर्म शब्द के वाचक विभिन्न शब्द

कर्म-सिद्धान्त का विवेचन करने मे पूर्व विभिन्न दर्शनो (शास्त्रो) मे उसके आशय को बतलाने वाले पर्यायवाची नामो को जान लेना उपयोगी है।

कर्म शब्द लोकव्यवहार और शास्त्र दोनो मे व्यवहृत हुआ है। जन-साधारण अपने लौकिक व्यवहार मे काम (कार्य), व्यापार, क्रिया आदि के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्रो मे विभिन्न अर्थो मे कर्म शब्द

का प्रयोग किया गया है। खाना, पीना, चलना आदि किसी भी हल-चल के लिए, चाहे वह जीव की हो या अजीव की हो—कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। कर्मकाडी मीमासक यज्ञयागादिक क्रियाओं के अर्थ मे, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमो के नियत कर्तव्य (कर्म) के रूप में, पौराणिक व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओ के अर्थ मे, वैयाकरण कर्त्ता के व्यापार का फल जिस पर गिरता है, उसके अर्थ मे और वैशेषिक उत्क्षेपण आदि पाँच साकेतिक कर्मो के अर्थ मे तथा गीता मे क्रिया, कर्तव्य, पुनर्भव कारणरूप अर्थ मे कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं।

जैन दर्शन मे जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ अथवा उस अर्थ मे मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनो मे माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट सस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द मिलते हैं।

दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द है, जो सब दर्शनो के लिए साधारण-से है, लेकिन माया, अविद्या और प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन मे पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन दर्शन मे भाव कर्म कहते हैं।

'अपूर्व' शब्द मीमासा दर्शन मे मिलता है। यह दर्शन मानता है कि सासारिक वस्तुओ का निर्माण आत्माओ के पूर्वार्जित कर्मो के अनुसार भौतिक तत्त्वो मे होता है। कर्म एक स्वतत्र शक्ति है, जिससे ससार परिचालित होता है। जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य मे उपयुक्त अवसर पर मिलता है।

'वासना' शब्द बौद्ध दर्शन मे प्रसिद्ध है। बौद्ध दर्शन मे चार आर्य सत्यो मे से, दूसरे दुःख के कारणो के रूप मे द्वादश निदानो को बतलाते हुए कहा है कि पूर्वजन्म की अन्तिम अवस्था मे मनुष्य के पूर्ववर्ती सभी कर्मो का प्रभाव रहता है और कर्मो के अनुसार सस्कार बनते हैं। इन सस्कारो को वासना कहते हैं जो क्रमशः चलती रहती है।

योगदर्शन मे भी वासना शब्द का कर्म-पर्याय के रूप मे प्रयोग किया गया है। वहाँ ईश्वर का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि ससार के सभी जीव अविद्या, अहकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश आदि के कारण से दुःख पाते हैं। वे भाँति-भाँति के कर्म करते हैं और उनके विपाक या फल स्वरूप सुख-दुःख भोग करते हैं। वे पूर्व जन्म के निहित सस्कारो से भी प्रभावित होते हैं। इन पूर्वजन्म के सस्कारो की परम्परा का दूसरा नाम वासना या कर्म है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन मे आशय शब्द का भी उपयोग कर्म का अर्थ प्रतिपादन करने के लिए किया हुआ देखने मे आता है। सांख्यदर्शन मे भी आशय शब्द का प्रयोग मिलता है।

धर्माधर्म, अदृष्ट और सस्कार इन शब्दो का प्रयोग, विशेषतया न्याय और वैशेषिक दर्शनो मे पाया जाता है। सामान्यतया अन्य दर्शनो मे भी इन शब्दो का प्रयोग देखने मे आता है। जैनदर्शन द्वारा मान्य कर्म शब्द के अर्थ को यथास्थान आगे विशेष रूप से स्पष्ट करेंगे।

पुनर्जन्म को मानने वाले आत्मवादी दर्शनो को पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए कर्म को मानना ही पडता है। चाहे उन दर्शनो की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओ के कारण या चेतन के स्वरूप मे मत-भिन्नता होने के कारण कर्म का स्वरूप भिन्न-भिन्न मालूम पडे, किन्तु इतना निश्चित है कि सभी आत्मवादियो ने पूर्वोक्त माया आदि शब्दो मे से किसी-न-किसी नाम से कर्म को स्वीकार किया है।

कर्मविपाक के विषय में विभिन्न दर्शनों का मतव्य

कर्म और कर्मफल का चिन्तन मानव-जीवन की साहजिक प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना चाहता है कि वह जो कुछ भी करता है, उसका क्या फल होता है। इसी अनुभव के आधार पर वह यह भी निश्चित करता है कि किस फल की प्राप्ति के लिए उसे कौन-सा कार्य करना चाहिए। इस प्रकार मानवीय सभ्यता का समस्त ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक चिन्तन किसी-न-किसी रूप मे कर्म व कर्मफल को अपना विचार-विषय बनाता चला आ रहा है।

कर्म और कर्मफल-सम्बन्धी चिन्तन की दृष्टि से ससार के सभी दर्शनो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। एक वे दर्शन है जो कर्मफल-सम्बन्धी कारण-कार्य-परम्परा को इस जीवन तक ही चलने वाली मानते हैं। वे यह

विश्वास नही करते कि इस देह के विनष्ट हो जाने पर उसके कार्यों की परम्परा आगे चलती है। ऐसी मान्यता वाले दर्शनो को भौतिकवादी कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार जीवन-सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियाँ पचभूतो के सयोग से प्राणी के गर्भ या जन्मकाल से प्रारम्भ होती है और आयु के अन्त मे शरीर के विनष्ट हो जाने पर पुन पचभूतो मे मिलने से उन प्रवृत्तियो का अवसान हो जाता है।

इसके विपरीत दूसरे प्रकार के वे दर्शन हैं, जो मानते हैं कि पचभूतात्मक शरीर के भीतर एक अन्य तत्त्व—जीव या आत्मा विद्यमान है, जो अनादि और अनन्त है। उसका अनादिकालीन सासारिक यात्रा के बीच किसी विशेष भौतिक शरीर को धारण करना और उसे त्यागना एक अवान्तर घटना मात्र है। आत्मा ही अपने भौतिक शरीर के साधन से नाना प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओ द्वारा नित्य नये सस्कार उत्पन्न करती है, उसके फलो को भोगती है और उसी के अनुसार एक योनि को छोडकर दूसरी योनि मे प्रवेश करती रहती है, जब तक कि वह विशेष क्रियाओ द्वारा अपने को शुद्ध कर इस जन्म-मरण रूप ससार से मुक्त होकर सिद्ध नही हो जाती है। ऐसी ही मुक्ति या सिद्धि प्राप्त करना मानव-जीवन का परम उद्देश्य है इस प्रकार की मान्यताओ को स्वीकार करने वाले दर्शन अध्यात्मवादी कहलाते हैं।

इन दोनो प्रकार की विचारधाराओ मे से कुछ एक अध्यात्मवादी दार्शनिको ने कर्मफल-प्राप्ति के बारे मे जीव को स्वतत्र भोक्ता न होना तथा सृष्टि को अनादि न मानकर किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना है और उत्पत्ति के साथ विनाश का भी समय निश्चित करके उसकी उत्पत्ति और विनाश के लिए किसी न किसी रूप मे ईश्वर का सम्बन्ध जोड दिया है। उनमे से कुछ एक का दृष्टिकोण इस प्रकार है।

न्यायदर्शन मे कहा गया है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते हैं। ईश्वर जगत् का आदि सर्जक, पालक और सहारक है। वह शून्य से ससार की सृष्टि नही करता, वरन् नित्य परमाणुओ, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओ से उसकी सृष्टि करता है। वह ससार का पोषक भी है, क्योंकि उसकी इच्छानुसार ससार कायम रहता है। वह ससार का

संहारक भी है। क्योंकि जब-जब धार्मिक प्रयोजनों के लिए संसार के संहार की आवश्यकता पड़ती है, तब-तब वह संहार भी करता है। यद्यपि फल प्रदान हेतु ईश्वर को मनुष्य के पाप और पुण्य के अनुसार चलना पड़ता है, फिर भी वह सर्वशक्तिमान है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता तो है, लेकिन वह ईश्वर के द्वारा अपने अदृष्ट (अतीत कर्म) के अनुसार प्रेरित या प्रयोजित होकर कर्म करता है। इस प्रकार ईश्वर संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का कर्म-व्यवस्थापक है, उनके कर्म का फलदाता और सुख-दुःख का निर्णायक है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि और संसार का कर्ता महेश्वर है। उसकी इच्छा से संसार की सृष्टि होती है और उसी की इच्छा से प्रलय होता है। वह जब चाहे उसकी इच्छा हो, तब संसार बन जाता है कि जिससे सभी जीव अपने अपने कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग कर सकें और जब उसकी इच्छा होती है, तब वह उस जाल को समेट लेता है। यह सृष्टि और लय का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। सृष्टि का अर्थ है, पुरातन क्रम का ध्वंस कर नवीन का निर्माण करना। जीवों के प्राक्तन कर्म (पूर्व कृत पाप और पुण्य) को ध्यान में रखते हुए ईश्वर एक नव सृष्टि की रचना करता है। ब्रह्म या विश्वात्मा, जो अनन्त ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का भण्डार है, ब्रह्माण्ड के चक्र को इस प्रकार घुमाता है कि पुराकृत धर्म और अधर्म के अनुसार जीवों को सुख-दुःख का भोग होता रहता है।

योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम जड़ जगत् का फैलाव माना है। योगदर्शन में ईश्वर परम पुरुष है, जो सभी जीवों से ऊपर और सभी दोषों से रहित है, वह नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और पूर्ण परमात्मा है। संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) आदि के कारण दुःख पाते हैं।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि होती है और दोनों के विच्छेद से प्रलय होता है। प्रकृति और पुरुष दो भिन्न तत्त्व हैं। दोनों का संयोग या वियोग स्वभावतः नहीं हो सकता है। इसके लिए एक ऐसा निमित्त कारण मानना पड़ता है जो अनन्त बुद्धिमान हो और जीवों के अदृष्ट के अनुसार प्रकृति से पुरुष का संयोग या वियोग करा सके। जीवात्मा या पुरुष स्वयं

अपना अदृष्ट नही जानता, इसलिए एक ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को मानना आवश्यक है, जो जीवो के अदृष्टानुसार संसार की रचना या सहार कर पुरुष प्रकृति का सयोग-वियोग कराता रहे। जो यह कार्य सम्पन्न करता है, वह ईश्वर है, जिसकी प्रेरणा के विना प्रकृति जगत् का उस रूप मे विकास नही कर सकती, जो जीवो की आत्मोन्नति तथा मुक्ति के लिए अनुकूल हो।

वेदात दर्शन मे श्री शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे उपनिषद् के आधार पर ब्रह्म को सृष्टि का कारण सिद्ध किया है। भिन्न-भिन्न उपनिषदो मे जो सृष्टि का वर्णन किया गया है, वह यद्यपि एक-जैसा नही है, परन्तु इस विषय मे प्राय सभी एकमत है कि आत्मा (ब्रह्म या सत्) ही जगत् का निमित्त और उपादान—दोनो ही कारण है। सृष्टि की आदि के विषय मे अधिकाश उपनिषदो का मत कुछ इस प्रकार है कि सबसे पहले (आदि मे) आत्मा मात्र था। उसमे सकल्प हुआ कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, मैं सृष्टि की रचना करूँ और इन सृष्टि की रचना हो गई। ब्रह्म इस सृष्टि का सृजन अपने मे विद्यमान माया शक्ति से करता है।

इन सब परिकल्पनाओ के विपरीत जैनदर्शन जीवो से कर्मफल भोगवाने के लिए ईश्वर को कर्म का प्रेरक नही मानता है, क्योकि जैसे जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, वैसे ही उसका फल भोगने मे भी स्वतत्र हैं। यदि ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता माना जाये तो स्वय जीव द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होगे। क्योकि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो, क्या हमे सुखी कर सकता है? इसी प्रकार हम अच्छे कर्म करें तो क्या वह हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कर्म करना और बुरे कर्मो से डरना हमारा व्यर्थ है, क्योकि उनके फल का भोग स्वय जीव के आधीन नही है और यदि यह सही है कि हमे अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल स्वय भोगना पडेगा तो पर के हस्तक्षेप की कल्पना व्यर्थ है, क्योकि जीव स्वय अपने कृत कर्मों का फल भोगता है—

सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरण जीवित दु ख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरणजीवित-दु ख सौख्यम्॥

अतएव किसी को चाहे वह ईश्वर ही क्यो न हो, दूसरो के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का कर्त्ता मानना मात्र एक कल्पना है, अज्ञान मात्र है। आचार्य अमितगति ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा फल, तदीय लभते शुभाऽशुभम् ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेव मनन्यमानस, परोददातीति विमुच्य शेमुषी ।

तर्क की कसौटी पर कसे जाने पर भी ससार का स्रष्टा ईश्वर आदि कोई सिद्ध नही होता है। उसके विषय मे इतने प्रश्न उठ खडे होते है कि न कोई जगत् का सर्जक सिद्ध होता है और न असख्य प्रकार का जगत् वैचित्र्य किसी एक के द्वारा रचा जाना सभव है। वस्तुत प्रत्येक प्राणी अपने व्यक्तिगत जगत् का स्वय स्रष्टा है। इसी प्रकार जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता है, क्योकि सृष्टि अनादि अनन्त होने से वह कभी अपूर्व रूप मे उत्पन्न नहीं हुई है तथा वह भी स्वय परिणमनशील होने से ईश्वर के अधिष्ठान की भी अपेक्षा नही रखती है।

कर्मसिद्धान्त पर आक्षेप और परिहार

कर्मसिद्धान्त पर ईश्वर को सृष्टिकर्ता या प्रेरक मानने वालो के कुछ आक्षेप है। उन आक्षेपो को निम्नलिखित तीन प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) महल-मकान आदि विश्व की छोटी-बडी चीजें, जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा निर्मित होती हैं, तो पूर्ण जगत् जो कार्य रूप दिखता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए।

(२) सभी प्राणी अच्छे-बुरे कर्म करते हैं परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नही चाहता और कर्म स्वय जड होने से विना किसी चेतन की प्रेरणा से वह फल देने मे असमर्थ हैं। इसलिए ईश्वर को कर्मफल भोगवाने मे कारण-रूप से कर्मवादियो को मानना चाहिए।

(३) ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सदा मुक्त हो और मुक्त

जीवो की अपेक्षा भी उसमे कुछ विशेपता हो। अत कर्मवाद का यह मानना ठीक नही कि कर्म से छूट जाने पर सभी मुक्त, अर्थात् ईश्वर हो जाते है।

उक्त आक्षेपो का समाधान क्रमश इस प्रकार है—

(१) यह जगत् सदा मे है, किमी समय नया नहीं वना है। परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते है कि जिनमे किसी मनुष्य आदि प्राणिवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा होती है और दूसरे ऐसे भी प्रयत्न देखे जाते है, जिनमे किमी के प्रयत्न की अपेक्षा नही भी रहती है। वे जड तत्त्वो के तरह-तरह के सयोगो-वियोगो मे स्वत स्वयमेव वनते रहते हैं, इसलिए ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने की कोई जरूरत नही है और न उपयोगिता है।

(२) यह ठीक है कि कर्म जड है और प्राणी अपने किये हुए बुरे कर्म का फल नही चाहते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जीव, (चेतन) के सयोग मे कर्म मे एक प्रकार की ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाको को नियत ममय पर प्रकट करता है। कर्म सिद्धान्त यह नहीं मानता कि चेतन के सम्वन्ध के सिवाय ही जडकर्म फल देने मे समर्थ हैं, परन्तु यह मानता है कि फल देने के लिए ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नही है, क्योकि सभी जीव चेतन हैं और वे जैसा कर्म करते है, उमके अनुसार उनकी वैसी बुद्धि वन जाती है, जिमसे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐमा कृत्य कर वैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना और फल न चाहना, ये दो अलग-अलग स्थितियाँ है, केवल चाह न होने से ही किये गये कर्म का फल मिलने मे रुक नही सकता है। सामग्री इकट्ठी हो गई हो तो कार्य आप-ही-आप होने लगता है, जैसे—एक मनुष्य धूप मे खडा हो, गरम चीज खाता हो और चाहे कि प्यास न लगे तो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है। यदि ईश्वर-कर्तृत्ववादी यह कहे कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना फल प्राणियो पर प्रकट करते हैं तो इसका उत्तर यह है कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव मे ऐसे सस्कार पड जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते है।

(३) ईश्वर और जीव—दोनो चेतन हैं, फिर उनमे अन्तर ही क्या है ? अन्तर सिर्फ इतना ही हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणो से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नही, परन्तु जिस समय जीव अपने आवरणो को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाती हैं। अत जीव और ईश्वर मे विषमता का कारण नही रहता है। विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विषमता ससार तक ही सीमित है, आगे नही। इसलिए यह मानने मे कोई आपत्ति नही कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वास के बल पर यह कह देना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए, उचित नही है। सभी आत्माएँ तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं। केवल बन्धन के कारण ही छोटे-बडे जीव रूप मे देखी जाती हैं। यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है और पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

आत्मा का अस्तित्व—सात प्रमाण

कर्म का बन्ध कौन करता है और उसका फल कौन भोगता है, इस प्रश्न का उत्तर है—आत्मा। अतएव कर्म-तत्त्व के बारे मे विचार करने के साथ-साथ आत्मा के अस्तित्व को मानना जरूरी है तभी कर्म का विवेचन युक्ति सगत माना जाएगा। आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व निम्नलिखित सात प्रमाणो से सिद्ध होता है—

(१) स्वसवेदन-रूप साधक प्रमाण,
(२) बाधक प्रमाण का अभाव,
(३) निषेध मे निषेध कर्त्ता की सिद्धि,
(४) तर्क,
(५) शास्त्र-प्रमाण,
(६) आधुनिक विद्वानो की सम्मति,
(७) पुनर्जन्म।

उक्त प्रमाणो का विवेचन क्रमश इस प्रकार है—

(१) **स्वसवेदन-रूप साधक प्रमाण**—यद्यपि सभी देह-धारी अज्ञान के आवरण मे न्यूनाधिक रूप से घिरे हुए है और इससे वे अपने ही अस्तित्व का

सन्देह करते हैं, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोडी-सी भी स्थिर हो जाती है, उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूं ।' यह स्फुरणा कभी नही होती कि 'मैं नही हूं ।' इससे उल्टा यह निश्चय होता है कि 'मैं हू ।' इसी बात को श्री शकराचार्य ने भी कहा है—

'सर्व आत्माऽस्तित्व प्रत्येति न नाहमस्मीति'[1]—इसी निश्चय को स्व-सवेदन या आत्मनिश्चय कहते हैं ।

(२) **बाधक प्रमाण का अभाव**—ऐसा कोई प्रमाण नही जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता हो । इस पर यद्यपि यह शका हो सकती है कि मन और इन्द्रियो के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाधक प्रमाण है । परन्तु इसका समाधान सहज है । किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है, जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर भी उसे ग्रहण न कर सके । उदाहरणार्थ—आँख मिट्टी के घडे को देख सकती है । परन्तु प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह घडे को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिए ।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं । उनकी ग्रहणशक्ति परिमित है । वे भौतिक पदार्थों मे से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयो को ही ऊपर-ऊपर से जान सकती है । सूक्ष्मदर्शक यत्रो आदि साधनो की भी वही दशा है । वे अभी तक भौतिक पदार्थों मे ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं और उनमे भी पूर्ण रूप से नही । इसलिए उनका अभौतिक-अमूर्तआत्मा को न जान सकना बाधक नही कहा जा सकता है । मन सूक्ष्म भौतिक होने पर भी इन्द्रियो का दास बन जाता है—एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयो मे बन्दरो के समान दौड लगाता फिरता है—तब उसमे राजस और तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं, सात्त्विक भाव प्रकट नही होने पाता । यही बात गीता मे भी कही गयी है—

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥[2]

---

१ ब्रह्मभाष्य १-१-१

२ गीता, अध्याय २, श्लोक ६७ ।

मन जव स्वतन्त्र विचरती हुई इन्द्रियो मे जिस किसी एक भी इन्द्रिय के पीछे लग जाता है, तो उसकी बुद्धि को भी अपने साथ वहाकर ले जाता है, जैसे नाव को पवन।

इसलिए चचल मन मे आत्मा की स्फुरणा भी नही होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्व ग्रहण करने की शक्ति जिम दर्पण मे विद्यमान है, वही जव मलिन हो जाता है, तव उसमे किसी वस्तु का प्रतिविम्व व्यक्त नही होता। इससे यह वात सिद्ध है कि वाहरी विषयो मे दौड लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना, उसका वाधक नही, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म-दर्शक-यत्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नही रखते।

(३) **निषेध से निषेधकर्त्ता की सिद्धि**—कुछ लोग यह कहते है कि हमे आत्मा का निश्चय नहीं होता, वल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो जाती है, क्योकि किसी समय मन मे ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मैं नही हूँ' इत्यादि। परन्तु उनको जानना चाहिए कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है, क्योकि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे हो? जो निषेध कर रहा है, वह स्वय ही आत्मा है। इस वात को शकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे कहा है—

य एवहि निराकर्ता नदेवहि तस्य स्वरूपम्। २।३।१।७

(४) **तर्क**—यह भी आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व की पुष्टि करता है। यह कहता है कि जगत मे सभी पदार्थों का विरोधी कोई न कोई देखा जाता है। जैसे अधकार का विरोधी प्रकाश, उष्णत्व का विरोधी शीतत्व और सुख का विरोधी दु ख है, उसी तरह जड पदार्थ का विरोधी कोई तत्त्व होना चाहिए। यह तर्क निर्मूल या अप्रमाण नही है, वल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध बुद्धि का चिह्न है। जो तत्त्व जड का विरोधी है, वही चेतन या आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि जड-चेतन ये दो विरोधी स्वतत्र तत्त्व मानना उचित नही, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ मे जड व चेतन तत्त्व दोनो शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का

विकास होने लगता है—उसकी अभिव्यक्ति होती है—उस समय जडत्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्ति वाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम है। वे जड के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखते, किन्तु जडत्व शक्ति का तिरोभाव होने मे जीवधारी-रूप मे दिखाई देते हैं। ऐसा ही मन्तव्य हेगल आदि पश्चिमी विद्वानो का भी है। परन्तु इस प्रतिकूल तर्क का निराकरण अशक्य नही है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु मे जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, तब उसमे दूसरी विरोधी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है, वह सदा के लिए नही, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसीप्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है, वह भी सदा के लिए नही। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है, उदाहरणार्थ— पानी के अणुओ को लीजिए, वे गरमी पाते ही भाप के रूप मे परिणत हो जाते हैं, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानी के रूप मे बरसते हैं और अधिक शीतत्व होने पर द्रव-रूप को छोड बर्फ के रूप मे घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जडत्व-चेतनत्व—दोनो शक्तियो को किसी एक मूलतत्त्व गत मान लें तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा, क्योकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं, वे ही सब जडत्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड हो जायेंगे, जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड-रूप मे दिखाई देते हैं, वे भी कभी चेतन हो जाएँगे और चेतनरूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणी कभी जड-रूप भी हो जाएँगे। अतएव एक ही पदार्थ मे जडत्व व चेतनत्व—दोनो विरोधिनी शक्तियो को न मानकर जड व चेतन—दो स्वतंत्र तत्त्वो को ही मानना ठीक है।

(५) शास्त्र-प्रामाण्य—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारो ने बडी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय मे खोज की है, उनके शास्त्रगत अनुभव को यदि हम बिना ही अनुभव किये चपलता मे यो ही हँस दें तो इसमे क्षुद्रता किसकी? आज-कल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होने अपना जीवन पवित्रता

प्रतिभा के मुख्य कारण नही थे, क्योकि देवचन्द्र सूरि के उनके सिवाय और भी शिष्य थे। फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यो का नाम लोग जानते तक नही और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है। श्रीमती एनीबिसेंट मे जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है, वह उनके माता-पिता मे न थी और न उनकी पुत्री मे ही थी।

उक्त उदाहरणो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पडता है कि इस जन्म मे देखी जाने वाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति का परिणाम हैं, न माता-पिता के वल-सस्कार का ही और न केवल परिस्थिति की ही। इसलिए आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के प्रारम्भ समय मे और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्वजन्म है। पूर्वजन्म मे इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो सस्कार सचित हुए हो उन्ही के आधार पर उपयुक्त शकाओ तथा विलक्षणताओ का सुसगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हुआ, उसी के वल पर अनेक पूर्वजन्मो की परम्परा सिद्ध हो जाती है, क्योकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नही हो सकती। इस प्रकार आत्मा देह से भिन्न अनादि सिद्ध होती है। अनादि तत्व का कभी नाश नही होता, इस सिद्धात को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता मे भी कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।—गी०, अ० २, श्लोक १६

इतना ही नही, वल्कि वर्तमान शरीर के वाद आत्मा का अस्तित्व माने विना अनेक प्रश्न हल नही हो सकते। वहुत-से ऐसे लोग होते हैं कि वे इस जन्म मे तो प्रामाणिक जीवन विताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्री और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढते हैं, परन्तु होते हैं वे सव तरह से सुखी। ऐसे अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं जो है तो स्वय दोषी और उनके दोषो का—अपराधो का फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकडा जाकर फाँसी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और दूसरा पकडा जाता है। अव इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या वुरी कृति का वदला इस जन्म मे नही मिला, क्या उनकी कृति यो ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नही होती,

यदि कर्त्ता को फल नही मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगो पर होता ही है—सो भी ठीक नही, क्योकि मनुष्य जो कुछ करता है, वह सव दूसरो के लिए ही नही। रात-दिन परोपकार करने मे निरत महात्माओ की भी इच्छा दूसरो की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था मे इच्छा का वहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा मे वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्ति-सगत नही। मनुष्य अपने जीवन की आखिरी घडी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है, जिससे कि अपना भला हो। यह नही कि ऐसा करने वाले सव भ्रान्त ही होते है। वहुत पहुँचे हुए स्थिर चित्त व शान्त प्रज्ञावान योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा मे लगे रहते हैं कि इस जन्म मे नही तो दूसरे जन्म मे ही सही, किसी समय हम परमात्म भाव को प्रकट कर ही लेंगे।

इसके सिवाय सभी के चित्त मे यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं वरावर कायम रहूँगा। शरीर के नाश होने के वाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाए तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना सकुचित वन जाता है और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? औरो के लिए जो कुछ भी किया जाए, वह अपने लिए किये जाने वाले कार्यो के वरावर हो नही सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्तमान देह के अतिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्त्वाकाक्षा एक तरह से छोड देनी पडती है। इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे सही, परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्य के हृदय मे जितना वल प्रकट कर सकती है, उतना वल अन्य कोई भावना प्रकट नही कर सकती है। यह भी नही कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्व विदित है।

विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओ को देख जड तत्त्वो पर खडा किया गया हो, पर उसका विषय चेतन भी वन सकता है। इन सव वातो पर ध्यान देने मे यह माने विना सन्तोष नही होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। यह जानते या अनजानते जो कुछ अच्छा-वुरा कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पडता है और इसीलिए उसे पुनर्जन्म के चक्कर मे घूमना पडता है।

क्यो भोगना पडे ? वालक जो कुछ सुख-दु ख भोगता है, वह यो ही विना कारण भोगता है, यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योकि विना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है। यदि यह कहा जाए कि माता-पिता के आहार-विहार का, आचार-विचार का और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओ का असर वालक पर गर्भावस्था से ही पडना शुरू होता है तो पुन यह प्रश्न होता है कि वालक को ऐसे माता-पिता का सयोग क्यो हुआ ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी वालक की योग्यता माता-पिता से विलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते है कि माता-पिता विलकुल अपढ होते है और वालक पूरा शिक्षित वन जाता है। विशेष क्या, यहाँ तक देखा जाता है कि किन्ही-किन्ही माता-पिताओ की रुचि जिस वात पर विलकुल ही नही होती, उसमे वालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पास की परिस्थिति ही नही मानी जा सकती है, क्योकि समान परिस्थिति और वरावर देखभाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियो मे विचार और व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाए कि यह परिणाम वालक के अद्भुत ज्ञान तन्तुओ का है तो इस पर यह शका होती है कि वालक की देह माता-पिता के शुक्र-शोणित से वनी होती है, फिर उनमे अविद्यमान ऐसे ज्ञान-तन्तु वालक के मस्तिष्क मे आये कहाँ से ? कही-कही माता-पिता की-सी ज्ञानशक्ति वालक मे देखी जाती है सही, पर इसमे भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यो मिला। किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता वहुत वढी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लडका गँवार ही रह जाता है।

यह सव तो विदित ही है कि एक साथ युगलरूप से जन्मे हुए दो वालक भी समान नही होते। माता-पिता की देखभाल वरावर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कही आगे वढ जाता है। एक का पीछा रोग से नही छूटता और दूसरा वडे-वडे कुश्तीवाजो से हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी वनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी यम का अतिथि वन जाता है। एक की इच्छा सयत होती है और दूसरे की असयत। जो शक्ति महावीर, वुद्ध और शकराचार्य मे थी, वह उनके माता-पिता मे न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नही माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी

बुद्ध भगवान ने भी पुनर्जन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन विद्वान् निट्से कर्मचक्र-कृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व को मानने के लिए प्रबल प्रमाण है।

आत्मा के सम्वन्ध मे कुछ विशेष ज्ञातव्य

पूर्वोक्त सदर्भो से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादि-अनन्त है। वह न तो कभी बनी थी और न कभी इसका नाश होगा। वह शाश्वत है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि जव आत्मा किसी भी प्रकार से दिखाई नही देती है तो हम उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार करलें? इस सम्वन्ध मे यही कहा जा सकता है कि आत्मा कोई भौतिक पदार्थ नही है जो किसी शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यत्र से दिखाई दे सके। यह तो अनुभूति द्वारा जानी जा सकती है।

देखना, स्पर्श होना आदि भौतिक पदार्थों का होता है। लेकिन आत्मा भौतिक पदार्थ नही है, अभौतिक है, इसलिए उसके देखने, स्पर्श होने की कल्पना नही की जानी चाहिए।

साधारणतया यह कहा जाता है कि हम अपनी आँख से देखते है, कानो से सुनते हैं आदि। किन्तु यह सत्य नही है। ये इन्द्रियाँ तो उपकरण मात्र हैं, वास्तव मे विषयो को ग्रहण करने की शक्ति तो आत्मा मे है। यही आत्मा इन इन्द्रियो के माध्यम से देखने, स्पर्श करने आदि कार्यों को करती है।

इस सम्वन्ध मे एक और तथ्य विचारणीय है। आँखे केवल देख सकती हैं, कान केवल सुन सकते है, नाक सूघ सकती है जीभ खट्टे मीठे आदि रसो का स्वाद ले सकती है और त्वचा ठडे-गरम आदि का अनुभव कर सकती है। यदि हम आँखे वन्द करले तो शरीर के अन्य अग मे देख नही सकते, यदि हम कान वन्द करलें तो शरीर के किसी अन्य अग से सुन नही सकते है आदि-आदि। परन्तु हमारे शरीर के अन्दर कोई एक ऐसी विलक्षण शक्ति विद्यमान है जो एक साथ देखना, सुनना, सूघना आदि क्रिया कर सकती है और उस शक्ति का नाम ही आत्मा या चेतना है।

आत्मा का लक्षण ज्ञान है। हम यह कह सकते है कि जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान अर्थात् जानना है। ज्ञान और आत्मा एक दूसरे से अभिन्न

है। विभिन्न आत्माओ पर कर्मों का आवरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होने के कारण भिन्न-भिन्न जीवो के ज्ञान मे न्यूनाधिकता हो सकती है, परन्तु ऐसा कभी नही हो सकता कि जहाँ आत्मा हो, वहाँ ज्ञान न हो। भौतिक पदार्थो को देखें, उनमे कुछ भी ज्ञान नही होता। प्रत्येक जीवित प्राणी, चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी या सूक्ष्म कीट-पतग, उनमे ज्ञान अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि उनके अपने-अपने आवरण के कारण ज्ञान मे तरतमता होगी।

ज्ञान को यदि शरीर का लक्षण माने तो बडे शरीर मे अधिक ज्ञान और छोटे शरीर मे अपेक्षाकृत कम ज्ञान होगा। परन्तु यह बात अनुभव के विपरीत है। शव मे भी ज्ञान का अस्तित्व मानना पडेगा।

कुछ व्यक्ति शका कर सकते है कि जब सभी जीवो मे आत्मा है और आत्मा का लक्षण ज्ञान है तो सभी जीवो को एक समान ज्ञान क्यो नही होता? इसका उत्तर यह है कि आत्मा तो वस्तुत ज्ञानमय है, परन्तु उस पर कर्मों का आवरण पडा हुआ है और इस आवरण के कारण ही आत्मा का ज्ञान-गुण ढका रहता है। जैसे-जैसे आवरण का घनत्व कम होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान-गुण अधिकाधिक प्रकट होता जाता है।

हम आत्मा के ज्ञान-गुण की तुलना सूर्य के प्रकाश से और कर्मों के आवरण की तुलना बादलो से कर सकते हैं। यद्यपि सूर्य मे से प्रकाश तो सम्पूर्ण रूप से निकल रहा है परन्तु बादल आजाने से हम सूर्य के प्रकाश को पूर्ण रूप से ग्रहण नही कर पाते हैं। यदि बादल घने हो तो हमे प्रकाश बहुत कम मिल पाता है और जैसे-जैसे बादलो का घनत्व कम होता जाता है, हम अधिकाधिक प्रकाश पाते जाते हैं। यही बात ज्ञान के विकास और कर्मावरण के सम्बन्ध मे घटित कर लेनी चाहिए।

प्रत्येक जीव मे हर्ष-विषाद, प्रेम, घृणा आदि भावनाएँ दिखती है। ये भावनाएँ जीव के भौतिक शरीर-पिण्ड की नही हैं। यदि ये भावनाएँ भौतिक पदार्थों की गुण होती तो ये सदैव ही सब भौतिक पदार्थों मे पाई जाती, परन्तु ऐसा नही होता है। ज्ञान की तरह ये भावनाएँ केवल जीवित प्राणियो मे ही होती हैं। इसलिए ये भावनाएँ भी शरीर मे विद्यमान किसी अभौतिक पदार्थ की अनुभूति कराती हैं और वह जो अभौतिक पदार्थ है, आत्मा है।

एक प्रदेश मे असख्य आत्माओ के विद्यमान होने मे भी कोई वाधा नही है, क्योकि आत्मा अभौतिक पदार्थ है। उसमे रूप, रस, गध, वर्ण, स्पर्श जो भौतिक पदार्थ के गुण हैं—नही है। इसलिए एक ही समय मे, एक ही स्थान पर एक साथ असख्य आत्माओ के विद्यमान होने मे कोई वाधा नही है। जैसे—एक कमरे मे एक दीपक का प्रकाश भी रह सकता है और दूसरे सहस्रो दीपको का प्रकाश भी उसी कमरे मे व्याप्त हो सकता है। इनमे किसी प्रकार से व्याघात (रुकावट) नही आता है। उन सब दीपको का प्रकाश एक दूसरे से बिलकुल स्वतत्र है। इसी प्रकार एक ही समय मे एक ही स्थान पर असख्य आत्माओ के विलकुल स्वतत्र रूप से एक साथ रहने मे कोई वाधा नही आती है।

प्रत्येक आत्मा अपने-अपने शरीर प्रमाण है—न उससे कम और न उससे अधिक। आत्मा मे सिकुडने और फैलने का गुण होता है, इसलिए वह अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शरीर के प्रमाण वाली हो जाती है, जैसे कि एक दीपक को छोटी-सी कोठरी मे रखने पर उसका प्रकाश उस कोठरी तक सीमित रहता है और जब उसी दीपक को एक बडे कमरे मे रखते हैं तो उसका प्रकाश उस वडे कमरे मे फैल जाता है। इसी तरह आत्मा के कीडी और कुजर के शरीर मे व्याप्त होने के बारे मे समझना चाहिए।

कर्म का अनादित्व

पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है और कर्मबन्ध होता रहता है। तो सहज ही मनुष्य के मन मे विचार होता है कि आत्मा पहले है या कर्म पहले है। दोनो मे से पहले कौन है और पीछे कौन है अथवा आत्मा की तरह कर्म भी अनादि है। यदि आत्मा पहले है तो जब से उसके साथ कर्म का बध हुआ, तब से उसको सादि मानना पडेगा। जैनदर्शन मे इसके उत्तर मे कहा है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी-न-किसी तरह की हलचल किया करता है। हलचल का होना ही कर्मबन्ध का कारण है। इससे सिद्ध होता है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है, किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला, इसको कोई नहीं जानता और न कोई बता सकता है। भविष्यकाल की तरह भूतकाल भी

अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असभव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे विना दूसरी गति ही नही है।

कुछ लोग अनादि की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घवराकर कर्म-प्रवाह को सादि वतलाने लग जाते हैं, किन्तु अपनी वुद्धि से कल्पित दोष की आशका करके उसे दूर करने के प्रयत्न मे दूसरे वडे दोष को स्वीकार कर लेते है कि यदि कर्म-प्रवाह की आदि मानते हैं तो जीव को पहले ही अत्यन्त शुद्ध-वुद्ध होना चाहिए, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण? और यदि सर्वथा शुद्ध-वुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुए जीव भी कर्मलिप्त होंगे और उस स्थिति मे मुक्ति को सोया हुआ ससार ही कहना चाहिए। कर्म-प्रवाह के अनादित्व और मुक्त जीवो को पुन ससार मे न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शनो ने माना है।

प्रवाह सतति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का अनादि सम्वन्ध और व्यक्ति की अपेक्षा सादि सम्वन्ध है के वारे मे स्पष्टतया समझने के लिए आचार्यो ने कहा है—

जो खलू संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायन्ते।
तेहि दुवि सयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो ससार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥[1]

जीव के साथ कर्म का सम्वन्ध अनादिकालीन है। ऐसा नही है कि जीव अनादि काल से सर्वथा शुद्ध चैतन्यरूप था और वाद मे किसी समय उस कर्म के साथ सम्वन्ध हो गया हो। इसको इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण, दूध और घृत, अण्डा और मुर्गी, वीज और वृक्ष का अनादिकालीन सम्वन्ध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी प्रवाह सतति की अपेक्षा अनादिकालीन सम्वन्ध स्वय सिद्ध

---

१ पचास्तिकाय

जानना चाहिए। अर्थात् ससारी जीवो के मन, वचन, काया मे परिस्पन्दन होता है और उससे कर्मो का आस्रव होने से गति आदि होती है। गति होने पर देह और देह मे इन्द्रियाँ बनती हैं, उनमे विषयो का ग्रहण होता है और विषयो के ग्रहण से राग-द्वेष उत्पन्न होता रहता है और फिर इन राग-द्वेष रूप भावो से ससार का चक्र चलता रहता है।

अनादि होने पर भी कर्मों का अन्त सम्भव है

कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध है और जो अनादि होता है, उसका कभी नाश नही हो सकता है, ऐसा सामान्य नियम है। लेकिन कर्म के बारे मे यह नियम सार्वकालिक नही है। स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का अनादि सम्बन्ध है, तथापि वे प्रयत्न-विशेष से पृथक्-पृथक् होते देखे जाते है। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का भी अन्त होता है। यह स्मरणीय है कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नही है, किसी एक कर्म-विशेष का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध नही है। पूर्वबद्ध कर्मस्थितिपूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक् हो जाता है और नवीन कर्म का बध होता रहता है। इस प्रकार से, प्रवाह रूप से कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिश अनादि नही है और तप-सयम के द्वारा कर्मों का प्रवाह नष्ट होने से आत्मा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कर्मों की अनादि परम्परा प्रयत्न-विशेषो से नष्ट हो जाती है और पुन. नवीन कर्मो का बध नही होता है।

आत्मा और कर्म मे बलवान कौन ?

कर्मो के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नो से कर्मो को नष्ट कर देती है। अत कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। बहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते है और कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियो मे जन्म-मरण के चक्कर भी काटती रहती है, परन्तु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणति से कर्मों का आस्रव करती है और उनमे उलझी रहती है, वैसे ही कर्मो को क्षय करने की क्षमता रखती है। कर्म चाहे कितने भी शक्तिशाली प्रतीत हो, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्ति-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है, किन्तु वह पानी भी पत्थरो की बडी-बडी चट्टानो के टुकडे-

टुकडे कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नही होता, तब तक वह कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन-सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्नकर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है।

कर्मसिद्धान्त का अन्य शास्त्रो से सम्बन्ध

अध्यात्मशास्त्र—अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य आत्मा सम्बन्धी विषयो का विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पडता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही मन मे उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओ का स्वरूप ठीक-ठीक जाने बिना उसके बाद का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यो नही है? इसलिए अध्यात्मशास्त्र के लिए आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढे। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओ को कर्मजन्य बतलाकर उससे आत्मा के स्वभाव की पृथकता की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अग है।

अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य यदि आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय, तब भी कर्मशास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पडता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव मे आनेवाली वर्तमान अवस्थाओ के साथ आत्मा के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न हो, तब तक दृष्टि आगे कैसे बढ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के (वर्तमान के) सब स्वपर-मायिक या वैभाविक हैं, तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना, यह भी अध्यात्मशास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध मे उपनिषद् या गीता मे जैसे विचार पाये जाते हैं, वैसे ही कर्मशास्त्र मे भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा—जीव

ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा मे मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का कर्ममुक्त होकर अपने परमात्म भाव को व्यक्त करके परमात्मस्वरूप मय हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव मे जितनी ज्ञान कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप मे प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिए।

धन, शरीर आदि वाह्य विभूतियो मे आत्मबुद्धि करना, अर्थात् जड मे अहत्व करना वाह्यदृष्टि है। इस अभेद भ्रम को वहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोडने की शिक्षा कर्मशास्त्र देता है। जिनके सस्कार केवल वहिरात्मभावमय हो गये है, उन्हे कर्मशास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सचाई मे कुछ भी अतर नही पड सकता है।

शरीर और आत्मा के अभेद भ्रम को दूर कराकर उसके भेदज्ञान को, विवेकख्याति को कर्मशास्त्र प्रगट करता है। इसी समय से अतर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने मे विद्यमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव मे लाना—यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढग से कर्मशास्त्र ने अपने ऊपर ले रखा है, क्योकि वह अभेद भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर फिर स्वाभाविक अभेदज्ञान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खीचता है। वस उसका कर्तव्य क्षेत्र उतना ही है। साथ ही, योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमे मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारो की खान है। यही उसका महत्त्व है।

वहुत-से लोगो को कर्म की प्रकृतियो की गिनती, सख्या की वहुलता आदि से उस पर रुचि नही होती, परन्तु इसमे कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ विषयो पर स्थूलदर्शी लोगो की दृष्टि नही जमती और उन्हे रस नहीं आता, तो इसमे उन विषयो का क्या दोष? दोष है समझनेवालो की वुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय मे रस तभी आता है, जवकि वह उसमे तल तक उतर जाए।

शरीरशास्त्र— आत्मा के साथ कर्म का निकटतम सम्वन्ध है। शुद्ध, निष्कर्म आत्मा होने के पूर्व उसकी अशुद्ध स्थिति, कारणो आदि का कथन कर्मशास्त्र मे है। अशुद्ध स्थिति मे आत्मा का कोई-न-कोई शरीर, इन्द्रिय आदि होती हैं। अत इनका भी वर्णन कर्मशास्त्र मे यथास्थान किया जाता है। वैसे तो शरीर निर्माण के तत्व, उसके स्थूल-सूक्ष्म प्रकार, उसके वृद्धि-ह्रास-क्रम आदि का विचार शरीरशास्त्र मे किया जाता है और वास्तव मे यह शरीरशास्त्र का विषय है, लेकिन कर्मशास्त्र मे भी प्रसगवश ऐसी अनेक वातो का वर्णन किया गया है जोकि शरीर से सम्वन्ध रखती हैं।

शरीर सम्वन्धी वाते चाहे पुरातन पद्धति मे कही गई हैं। लेकिन इतने मात्र से उनका महत्त्व कम नही हो जाता है। मुख्य रूप से यह देखना है कि कर्मशास्त्र मे भी शरीर की वनावट, उसके प्रकार, उसकी मजवूती और उसके कारणभूत तत्वो का व्यवस्थित रीति से कथन किया गया है और उनकी शोध करके नवीनता भी लाई जा सकती है और शास्त्र की महत्ता भी सिद्ध की जा सकती है।

इसी प्रकार कर्मशास्त्र मे भाषा व इन्द्रियो के सम्वन्ध मे भी विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से वनती है, उसके वनने मे कितना समय लगता है। उसकी रचना के लिए आत्मा अपनी शक्ति का किस तरह प्रयोग करती है और किस साधन द्वारा करती है। भाषा की सत्यता, असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा वोल सकते हैं? किस जाति के प्राणी मे किस प्रकार की भाषा वोलने की शक्ति है इत्यादि भाषा सम्वन्धी प्रश्नो का महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार कर्मशास्त्र मे विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रिया कितनी है, कैसी हैं, उनके कैसे-कैसे भेद और कैसी-कैसी शक्तियाँ है? किस-किस प्राणी को कितनी-कितनी इन्द्रियाँ प्राप्त है? वाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियो का आपस मे क्या सम्वन्ध है, इनका कैसा-कैसा आकार है इत्यादि इन्द्रियो मे सम्वन्ध रखने वाले अनेक प्रकार के विचार कर्मशास्त्र मे पाये जाते हैं।

यह ठीक है कि ये सव विचार उसमे क्रमवद्ध नही भी मिलते हो किन्तु यह ध्यान मे रहे कि कर्मशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अश और ही है और उसी

के वर्णन के प्रसग मे शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार आवश्यकतानुसार किया गया है। इसलिए सभवत व्यवस्थित सकलना न हो पाई हो, तो भी इससे कर्मशास्त्र की त्रुटि सिद्ध नही होती है, बल्कि उसको तो अनेक शास्त्रो के विषय की चर्चा करने का गौरव ही कहा जाएगा।

कर्मसिद्धान्त का साध्य प्रयोजन

कर्म-सिद्धान्त का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ, इसके उत्तर मे निम्न-लिखित तीन प्रयोजन मुख्यतया हैं—

(१) वैदिक धर्म की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता के भ्रान्त अश को दूर करना।

(२) बौद्ध धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बताना।

(३) आत्मा को जड तत्त्व से भिन्न स्वतत्र चेतन तत्त्व स्थापित करना।

इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) महावीर कालीन भारतवर्ष मे जैनधर्म के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनो के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयो मे नितान्त भिन्न थे। मूल वेदो, उपनिषदो, स्मृतियो मे और वेदानुयायी कतिपय दर्शनो मे ईश्वर-विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्वसाधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मो का फल जीव से भोगवाता है, कर्म जड होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगवा नही सकते। चाहे कितनी ही उच्चकोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नही सकता, जीव-जीव ही है ईश्वर नही और ईश्वर के अनुग्रह के सिवाय ससार मे निस्तार भी नही हो सकता इत्यादि।

इस प्रकार के विश्वास मे ये तीन भूले थी—(१) कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि मे हस्तक्षेप करना। (२) आत्मस्वातत्र्य का दब जाना। (३) कर्म की शक्ति का अज्ञान। इन भूलो का परिमार्जन करने और यथार्थ वस्तुस्थिति को बतलाने के लिए भगवान महावीर ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि बौद्ध धर्म मे ईश्वर कर्तृत्व का निषेध किया गया था। बुद्ध का उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोकने और समभाव फैलाने का था और उनकी तत्त्वप्रतिपादन की शैली भी तत्कालीन उद्देश्य के अनुरूप ही थी। तथागत बुद्ध

कर्म और उसका विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्त मे क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया गया था। इसलिए भगवान महावीर का कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादन का एक यह भी उद्देश्य था कि यदि आत्मा को क्षणिकमात्र मान लिया जाय तो कर्मविपाक की किसी तरह उपपत्ति नही हो सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जबकि आत्मा न तो एकान्त नित्य माना जाए और न एकान्त क्षणिक।

भौतिकवादी आज की तरह उस समय भी थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान किसी स्थायी तत्त्व को नही मानते थे। यह दृष्टि बहुत ही सकुचित थी, जिसका कर्मसिद्धान्त के द्वारा निराकरण किया गया।

कर्मसिद्धान्त-विचार ऐतिहासिक समीक्षा

जैनदर्शन मे कर्मतत्त्व के विवेचन को अनादि माना है। जैन इसका समर्थन वैसे ही करते आये है, जैसे मीमामक वेदो के अनादित्व की मान्यता का करते हैं। बुद्धि-अप्रयोगी और बुद्धि-प्रयोगी दोनो प्रकार के श्रद्धालु मानते आये हैं और बुद्धिप्रयोगी तो श्रद्धा से मान ही नही लेते, उसका बुद्धि के द्वारा यथा-सभव समर्थन भी करते हैं। उक्त दृष्टि से कर्मतत्त्व की विचारणा का महत्त्व तो है ही, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार किया जाना उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक दृष्टि मे कर्मतत्त्व सम्बन्धी विचार-परम्परा की शृखला मे पहला प्रश्न है कर्मतत्त्व मानना या नही और मानना तो किस आधार पर। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ नही मानता था। उसकी दृष्टि मे इहलोक ही पुरुषार्थ है। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाध्य नही था जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यह पक्ष चार्वाक के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु साथ ही, उस पुराने युग मे भी ऐसे चिन्तक थे, जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है। इतना ही नही, इस दृश्यमान लोक के अलावा और श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक है। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप से कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एव इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट ही नही सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के

आधार पर कर्मतत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

इन कर्मवादियो के भी मुख्य दो दल रहे हैं। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्मजन्मान्तर और परलोक अवश्य हैं, परन्तु श्रेष्ठ जन्म और श्रेष्ठ परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। यह दल परलोकवादी होने मे तथा स्वर्ग को श्रेष्ठ लोक मानने वाला होने और उसके साधन रूप से धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से धर्म, अर्थ, काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थों को मानता था। उसकी दृष्टि मे मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप से स्थान न था। जहाँ कही प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता है, वह इसी त्रिपुरुषार्थ-वादी दल के मन्तव्य का सूचक है।

यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य, शिष्ट एव विहित आचरणो से धर्म की उत्पत्ति तथा निंद्य आचरणो मे अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर एक तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही सकेत करता था। यही दल ब्राह्मण मार्ग, मीमासक और कर्मकाण्डी नाम मे प्रसिद्ध हुआ। इसका मतव्य सक्षेप मे इस प्रकार है—

धर्म—शुभ कर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभ कर्म का फल नरक आदि हैं। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्ही के द्वारा जन्मजन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चलती रहती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। यदि शक्य है, तो इतना कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है तो धर्म ही कर्त्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय है परन्तु धर्म या पुण्य हेय नही।

कर्मवादियो का दूसरा दल उपर्युक्त दल से सर्वथा विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था। वह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट, सम्मत एव विहित कर्मों के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता, परन्तु वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा पुरुषार्थ भी है, जो मोक्ष कहा जाता है। इसका कथन है कि एक मात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्य रूप या पाप रूप—हेय है। यह नही कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्न से वह भी शक्य है।

जहाँ कहीं भी निवर्तक धर्म का उल्लेख आता है, वहाँ सर्वत्र इसी मत का सकेत है।

इस मत के अनुसार जब आत्यन्तिक कर्म निवृत्ति इष्ट है, तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पडा। इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि निषेध नहीं, किन्तु अज्ञान और रागद्वेष है। कैसा भी शिष्ट, सम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यो न हो, पर वह अज्ञान एव राग-द्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टि वालो के लिए है। तत्त्वत पुण्य और पाप सब अज्ञान एव राग-द्वेष मूलक होने से अधर्म एव हेय ही हैं। यह निवर्तक धर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्ति विकासवादी रहा। जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया, तब इसे कर्म के उच्छेदक एव मोक्ष के जनक कारणो पर भी विचार करना पडा। इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्म निवर्तक कारण स्थिर किये, वही इस दल का निवर्तक धर्म है।

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा परस्पर बिलकुल विरुद्ध है। एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और सुव्यवस्था का निर्माण है, जब कि दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव वह मात्र आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामो से प्रसिद्ध है। कर्म प्रवृत्ति अज्ञान एव राग-द्वेष जनित होने से, उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञान विरोधी सम्यक्ज्ञान और राग द्वेषविरोधी राग-द्वेष नाश रूप सयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और सयम के ही साधन रूप से माने गये।

निवर्तक धर्मावलबियो मे अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्षभेद कुछ तो वादो की स्वभावमूलक उग्रता-मृदुता का आभारी था और कुछ अशो मे तत्त्व ज्ञान की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया पर भी अवलम्बित था। उनके तीन पक्ष रहे जान पडते है—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी, (३) परमाणु होकर भी प्रधान की छायावाला। इनमे से पहला परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होने पर भी प्रवर्तक धर्म का उतना विरोधी न था, जितने कि पिछले दो। यही पक्ष न्याय, वैशेषिक

दर्शन रूप से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी आत्यन्तिक कर्म निवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तक धर्म, अर्थात् श्रौत-स्मार्त कर्म को भी हेय बतलाता था। यही पक्ष सांख्य, योग नाम से प्रसिद्ध है और इसी के तत्त्व ज्ञान की भूमिका के ऊपर तथा इसी के निवृत्तिवाद की छाया मे आगे जाकर वेदान्त दर्शन और सन्यास-मार्ग की प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधान छायापन्न, अर्थात् परिणामी परमाणुवादी का रहा, जो दूसरे पक्ष की तरह ही प्रवर्तक धर्म का आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एव निर्ग्रन्थ दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध दर्शन प्रवर्तक धर्म का आत्यन्तिक विरोधी है, पर वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। परन्तु सभी निवर्तकवादियो का सामाजिक लक्ष्य यह है कि किसी-न-किसी प्रकार कर्मो की जड नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहाँ से फिर जन्मचक्र मे आना न पडे।

ऐसा मालूम नही होता है कि कभी मात्र प्रवर्तकधर्म प्रचलित रहा हो, और निवर्तक धर्मवाद का पीछे से प्रादुर्भाव हुआ हो। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है, जबकि समाज मे प्रवर्तक धर्म की प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म व्यक्तियो तक ही सीमित होने के कारण प्रवर्तक धर्मवादियो की तरफ से न केवल उपेक्षित ही था, बल्कि उससे विरोध के आघात भी सहता रहा। परन्तु निवर्तक धर्मवादियो की पृथक-पृथक परम्पराओ ने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वो का क्रमश इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तक धर्म के होते हुए भी सारे समाज पर एक तरह से निवर्तक धर्म की प्रतिष्ठा की मुहर लग गई और जहाँ देखो वहा निवृत्ति की चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्ति के विचारो से ही निर्मित एव प्रचारित होने लगा।

निवर्तक धर्मवादियो को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनो के विषय मे तो ऊहापोह करना ही पडता था। पर इसके साथ उनके कर्मतत्त्वो के विषय मे भी बहुत विचार करना पडा। उन्होने कर्म तथा उसके भेदो की परिभाषाएँ एव व्याख्याएँ स्थिर की, कार्य और कारण की दृष्टि से कर्म तत्त्व का विविध वर्गीकरण किया, कर्म की फलगत शक्तियो का विवेचन किया, प्रत्येक के विपाको की काल-मर्यादाएँ सोची, कर्मो के पारस्परिक सम्बन्धो पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तक धर्मवादियो का अच्छा-खासा कर्मतत्त्व विषयक शास्त्र व्यवस्थित

हो गया और इसमे दिन-प्रति-दिन नये-नये प्रश्नो और उनके उत्तरो के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा।

ये निवर्तकवादी विभिन्न पक्ष अपने-अपने सुभीते के अनुसार पृथक-पृथक विचार करते रहे, परन्तु जब तक इन सबका सम्मिलित ध्येय प्रवर्तक कर्मवाद का खडन रहा, तब तक उनमे विचार-विनिमय भी होता रहा और उनमे एक-वाक्यता भी रही। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन मे कर्म-विषयक साहित्य मे परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दश और अर्थश साम्य बहुत कुछ देखने मे आता है, जबकि उक्त दर्शनो का विद्यमान साहित्य उस समय की अधिकाश पैदाइश है, जिस समय कि उक्त दर्शनो का परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था।

मोक्षवादियो के सामने एक समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने बद्ध कर्म भी अनन्त है, दूसरे उनका क्रमश फल भोगने के समय प्रत्येक क्षण मे नये-नये कर्म बँधते है, फिर इन सब कर्मो का सर्वथा उच्छेद कैसे सभव है, इस समस्या का समाधान भी मोक्षवादियो ने बडी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनो के साहित्य मे उस समाधान का वर्णन सक्षेप या विस्तार से एक-सा पाते हैं।

यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तक-वादियो के भिन्न-भिन्न पक्षो मे खूब विचारविनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया था, जबकि ये निवर्तकवादी पक्ष आपस मे पहले जैसे निकट न रहे। फिर भी हर एक पक्ष कर्मतत्व के विषय मे ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीच मे ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष मे एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया, जो मोक्ष सम्बन्धी प्रश्नो की अपेक्षा कर्म के विषय मे ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन-अध्यापन करता था, जैसा कि अन्य-अन्य विषय के चिन्तक वर्ग अपने-अपने विषय मे किया करते थे और आज भी करते हैं।

कर्म के बन्धक कारणो और उसके उच्छेदक उपायो के बारे मे मोक्षवादी गौण-मुख्यभाव से एक मत है ही पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे मे ऊपर निर्दिष्ट चिन्तक वर्ग का जो मतव्य है, उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी

मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतन धर्म बतलाते थे, जबकि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्त करण स्थित मानकर जड धर्म बतलाते थे । परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी मानने वाले जैन चिन्तक अपनी स्वतत्र प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड उभय के परिणाम रूप मे उभयरूप मानते हैं । इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी साख्य के प्राकृत अन्त करण की तरह सकोच विकासशील है, जिसमे कर्मरूप विकार भी सभव है और जो जड परमाणुओ के साथ एक रस भी हो सकता है । वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतन धर्म होने से वस्तुत चेतन से अलग नही और साख्य के अनुसार कर्म प्रकृति धर्म होने से वस्तुत जड से पृथक् नही, जबकि जैन चिन्तको के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड उभय रूप ही फलित होता है, जिसे वे भाव और द्रव्य कर्म भी कहते हैं । यह सब कर्म तत्त्व सम्बन्धी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है, जबकि कर्मतत्त्व के चिन्तको मे परस्पर विचार-विनिमय अधिकाधिक होता था । वह समय कितना पुराना है, यह निश्चित रूप से तो नही कहा जा सकता, परन्तु जैन दर्शन मे कर्मशास्त्र का जो चिरकालीन सस्थान है, उस शास्त्र मे जो विचारों की गहराई, शृ खला-वद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो का असाधारण निरूपण है, उसे ध्यान मे रखने से यह बिना माने काम नही चलता कि जैन दर्शन की विशिष्ट कर्म-विद्या भगवान पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी । इसी विद्या के कारण जैन कर्मशास्त्रज्ञ कहलाये और यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्म प्रवाद पूर्व के नाम से विश्रुत हुई ।

एक ओर जैन चिन्तको ने कर्म-तत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया, जबकि दूसरी ओर साख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया । आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए, तब उन्होने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया । पर सबो ने विरासत मे मिले कर्मचिन्तन का रूप अपना रखा है । यही कारण है कि सूक्ष्मता और विस्तार मे जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है । फिर भी साख्ययोग, बौद्ध आदि दर्शनो के कर्म चिन्तको के साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूल मे एकता भी है, जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियो के लिए ज्ञातव्य है ।

जैन दर्शन मे कर्म-सिद्धान्त का विवेचन

भारतवर्ष दार्शनिक चिन्तन की पुण्यभूमि है। यहाँ के मनीषी दार्शनिको ने जीवन के गभीर प्रश्नो पर चिन्तन-मनन करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा-परमात्मा, लोक स्वरूप, कर्म, कर्मफल आदि के बारे मे गहन चिन्तन-मनन व विवेचन किया है। वस्तुत यह चिन्तन ही भारतीय सस्कृति का मेरुदण्ड है।

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वी, जल या वनस्पतिगत हो या कीट पतग, पशु-पक्षी-रूप हो या मानव-रूप हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही आत्मविद्या का सार है, परन्तु जब तत्त्वत सब जीव समान हैं तब उनमे परस्पर वैषम्य क्यो, इस प्रश्न के उत्तर से ही कर्म सिद्धान्त का जन्म हुआ।

अध्यात्मवादी भारतीय दार्शनिक चिन्तन मे कर्म-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुख-दु ख एव विभिन्न प्रकार की सासारिक विचित्रताओ के कारणो की खोज करते हुए भारतीय चिन्तको ने कर्म सिद्धान्त का अन्वेषण किया। और विभिन्न दार्शनिक परम्पराओ ने, जिनका सकेत पहले किया जा चुका है, माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार आदि के रूप मे बताया है, तथापि इसका जो सुव्यवस्थित और सुविकसित रूप जैनदर्शन मे उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र क्रमबद्ध रूप से प्राप्त नही होता है।

अन्य दार्शनिक परम्पराओ मे कर्म को मानते हुए भी उसकी फलप्राप्ति के कारण के रूप मे येनकेन प्रकारेण ईश्वर को माध्यम मान लिया कि वह जीवो को कर्मफल देता है। इसके विपरीत जैनदर्शन ने ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति या विनाश और कर्मफल प्रदाता के रूप में न मानते हुए स्वय जीव को कर्म करने और उनका फल भोगने का अधिकारी बताया है। जीव अनादि काल से स्वकृत कर्मों के वश होकर विविध भवो मे परिभ्रमण कर रहा है। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मो के साथ परभव मे जाता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नही होता है। इसलिए यहाँ जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त-विषयक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

जैनदर्शन का विश्वसम्बन्धी दृष्टिकोण

जैन-मान्यतानुसार विश्व के मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव अथवा

चेतन और जड । निर्जीव अवस्था मे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सब एक ही जड तत्त्व के रूपान्तर है, जिन्हे पुद्‌गल कहते हैं। आकाश और काल भी तत्त्व है, किन्तु वे उपर्युक्त पृथ्वी आदि के समान मूर्तिमान नही, अमूर्त हैं। जीव, आत्मा या चेतन इन सबसे पृथक् तत्त्व है, जिसका लक्षण चेतना है। वह अपनी सत्ता का भी अनुभव करता है और अपने आस-पास के परपदार्थों का भी ज्ञान रखता है। उसकी इन दो वृत्तियो को जैनदर्शन मे दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग कहा है। दैहिक अवस्था मे यह जीव अपनी रागद्वेषात्मक मन, वचन, काया की प्रवृत्तियो द्वारा सूक्ष्मतम पुद्‌गल परमाणुओ को ग्रहण करता रहता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यन्तर सस्कारो को उत्पन्न करता है। इन सूक्ष्मतम पुद्‌गल परमाणुओ का आत्मप्रदेशो से आ मिलने की प्रक्रिया का नाम आस्रव है और इस मेल के द्वारा जो शक्तियाँ, आत्मस्वरूप की विकृतियाँ उत्पन्न होती है, उनका नाम बध है। इस प्रक्रिया के द्वारा इस सृष्टि का क्रम चलता रहता है और जीव उनके द्वारा निर्मित परिणामो को भोगता रहता है। अन्य कोई इन्हे सुख-दुख देने मे कारण नही बनता है अथवा हो सकता है।

कर्म का लक्षण

राग-द्वेष से सयुक्त इस ससारी जीव के अन्दर प्रति समय परिस्पदन रूप जो क्रिया होती रहती है उसको मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच रूपो मे वर्गीकृत कर सकते हैं। इनके निमित्त से आत्मा के साथ एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वह द्रव्य सुख-दु ख-रूप फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद आदि से जीव के द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।[1]

---

[1] (क) कीरइ जीएण हेउहि जेण त्तो भण्णए कम्म

—कर्मग्रन्थ भाग १।१

(ख) विसय कसायहि रगियह जे अणुयालग्गति।
जीव पएसह मोहियह ते जिण कम्म भणति ॥

—परमात्म प्रकाश १।६२

कर्म के दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्य कर्म। जीव के जिन राग-द्वेप रूप भावो का निमित्त पाकर अचेतन कर्म द्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावो का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ सवद्ध होता है, उसे द्रव्यकर्म कहते है।

भावकर्म और द्रव्यकर्म का विशेष विवेचन

भावकर्म—जैनदर्शन मे कर्मवन्ध के विस्तार से मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कपाय और योग ये पाँच कारण वतलाये है और इनको क्रमश सक्षिप्त करते हुए सक्षिप्त रूप अन्तिम दो कारणो—कषाय और योग मे किया हुआ मिलता है। इन दो कारणो को भी अधिक सक्षेप मे कहा जाय तो कपाय ही कर्मवन्ध का कारण है। यो तो कषाय के विकार के अनेक कारण हैं, पर उन सवका सक्षेप मे वर्गीकरण करके अध्यात्मवादियो ने राग और द्वेप ये दो ही प्रकार कहे हैं, क्योकि कोई भी मानसिक विचार हो या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (घृणा) रूप है। अनुभव से भी यही सिद्ध है कि साधारण प्राणियो की प्रवृत्ति चाहे ऊपर से कैसी ही क्यो न दीख पडे, परन्तु वह या तो राग-मूलक या द्वेषमूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओ का कारण होती है। प्राणी जान सके या नही, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म दृष्टि का कारण उसके राग और द्वेष ही होते हैं।

मकडी जैसे अपनी प्रवृत्ति से अपने वनाये हुए जाल मे फँसती रहती है, वैसे ही जीव भी अपनी प्रवृत्ति से कर्म के जाल को अज्ञान मोहवश रच लेता है और उसमे फँसता रहता है। अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं, सो वे भी राग-द्वेप के सम्वन्ध से ही। राग की या द्वेप की मात्रा वढी कि ज्ञान विपरीत रूप मे वदलने लगता है।

इसमे शब्द भेद होने पर भी कर्मवन्ध के कारण के सम्वन्ध मे अन्य किसी भी आस्तिक दर्शन के साथ जैन दर्शन का कोई मतभेद नही है। नैयायिक और वैशेपिक दर्शनो मे मिथ्याज्ञान को, योग दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि दर्शनो मे अविद्या को और जैनदर्शन मे मिथ्यात्व को कर्मवन्ध का कारण वतलाया है, लेकिन यह वात ध्यान मे रखनी चाहिए कि किसी को भी कर्म का कारण क्यो न कहा जाय पर यदि उसमे कर्म की

वधकता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेप के सम्वन्ध मे ही। राग-द्वेप का अभाव होते ही अज्ञानपना (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के 'कर्मणा वध्यते जन्तु' इस कथन मे भी कर्म शब्द का मतलव राग-द्वेप से ही है।

इस प्रकार मिथ्यात्वादि किसी नाम मे कहे या राग-द्वेप कहे, ये सव भाव कर्म कहलाते है। अव द्रव्यकर्म का विवेचन करते है।

द्रव्यकर्म—पूर्वोक्त कथन से यह भलीभाँति स्पप्ट हो जाता है कि राग-द्वेष जनित शारीरिक-मानसिक प्रवृत्ति से कर्मवन्ध होता है। वैसे तो प्रत्येक क्रिया कर्मोपार्जन का कारण होती है, लेकिन जो क्रिया कपायजनित होती है, उससे होने वाला कर्मवन्ध विशेष वलवान होता है और कपायरहित क्रिया से होने वाला कर्मवन्ध निर्वल और अल्पायु होता है, उसे नष्ट करने मे अल्प शक्ति और अल्प समय लगता है।

जैनदर्शन मे कर्मवन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। उसकी मान्यतानुसार ससार मे दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते है —(१) चेतन और (२) अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पाच प्रकार के है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल। इनमे से प्रथम चार प्रकार के द्रव्य अमूर्तिक एव अरूपी हैं। अत वे इन्द्रियो के अगोचर हैं और इसी से अग्राह्य हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसीलिए वह इन्द्रियो द्वारा दिखाई देता है और पकडा तथा छोडा भी जाता है। 'पूरणाद्गलनाद् पुद्गल' इस निरुक्ति के अनुसार मिलना और विछुडना इसका स्वभाव ही है। इस पुद्गल द्रव्य की ग्राह्य-अग्राह्य रूप वर्गणाएँ होती हैं। इनमे से एक कर्म-वर्गणाएँ भी हैं। लोक मे ऐसा कोई भी स्थान नही है, जहाँ ये कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ—पुद्गल परमाणु विद्यमान न हो। जव प्राणी अपने मन, वचन अथवा काय से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तव चारो ओर से कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओ का आकर्पण होता है और जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश मे उसकी आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही प्रदेश मे विद्यमान वे पुद्गल परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते है। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओ की सख्या मे भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा मे

अधिकता होने पर परमाणुओ की सख्या मे भी अधिकता होती है और प्रवृत्ति की मात्रा मे न्यूनता होने पर परमाणुओ की सख्या मे न्यूनता होती है और इन गृहीत पुद्गल परमाणुओ के समूह का कर्म-रूप से आत्मा के साथ बद्ध होना द्रव्यकर्म कहलाता है।

चार बध

इन द्रव्यकर्मों का क्रमश प्रकृतिबध, प्रदेशबध, अनुभागबध और स्थितिबध- इन चार भेदो मे वर्गीकरण कर लिया जाता है।

प्रकृतिबध— बद्ध कर्म परमाणुओ की आत्मा के ज्ञान आदि गुणो के आवरण रूप मे परिणत होना प्रकृतिबध कहलाता है।

प्रदेशबध—गृहीत पुद्गल परमाणुओ के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना प्रदेशबन्ध है।

अनुभागबध—कम-रूप गृहीत पुद्गल परमाणुओ के फल देनी की शक्ति व उसकी तीव्रता मदता का निश्चय करना अनुभागबध है।

स्थितिबध—कर्म-विपाक (कर्मफल) के काल की मर्यादा को बताना स्थिति-बध कहलाता है।

प्रकृतिबध मे कर्म परमाणुओ की प्रकृति अर्थात् स्वभाव का विचार किया जाता है। प्रदेशबध मे भिन्न-भिन्न स्वभाववाले कर्मों के परमाणुओ की सख्या अर्थात् उनमे से प्रत्येक के कितने कर्म प्रदेश है एव उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है, का कथन होता है। अनुभागबध एव स्थितिबध मे क्रमश कर्मों के फल देने की शक्ति की तीव्रता-मदता आदि का निश्चय और कर्मफल के काल—समय-स्थिति का दिग्दर्शन किया जाता है।

इनमे प्रकृतिबध और प्रदेशबध आत्मा की योग और कषाय रूप परिणति मे से योग से और अनुभाग व स्थितिबध कषाय से होते हैं। कषाय के अभाव मे कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नही रह सकते है। जैसे सूखे वस्त्र पर धूल अच्छी तरह न चिपकते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है, वैसे ही आत्मा मे कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म परमाणु भी सम्बद्ध न होते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाते हैं।

मन, वचन, काया रूप योगो की परिस्पन्दनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती

रहती है, किन्तु उन्हे कषायो का सहयोग न मिले तो वे कर्मबंध के लिए सक्रिय योग नही दे पाते हैं। इसलिए यत्नपूर्वक होनेवाली चलने-फिरने रूप आवश्यक क्रियाओ से होनेवाला निर्बल कर्मबन्ध असांपरायिक बंध कहलाता है और कषायो सहित होने वाली योग की प्रवृत्ति को सांपरायिक बंध कहते हैं। असांपरायिक-बंध भवभ्रमण का कारण नही होता और सांपरायिक बंध से ही प्राणी संसार मे परिभ्रमण करता है।

प्रकृतिबंध का विवेचन

आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मपरमाणुओ मे आत्मा के ज्ञान आदि गुणो को आवृत करने की शक्तियाँ (स्वभाव) उत्पन्न होती हैं। उसे प्रकृतिबंध के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्मा मे अनन्तगुण हैं। अत उनको आवृत करने वाले कर्मों के स्वभाव भी अनन्त माने जाते हैं, लेकिन उन सबका निम्नलिखित आठ कर्मों मे समाहार कर लिया जाता है। जिनके नाम क्रमश ये हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अंतराय। इनमे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती प्रकृतियाँ कहलाती हैं और शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघाती प्रकृतियाँ कहलाती हैं।

घाती प्रकृतियो से आत्मा के चार मूल गुणो (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य शक्ति) का घात होता है, अर्थात् ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है। दर्शनावरण से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है। मोहनीय सुख—आत्मसुख के लिए घातक है और अन्तराय द्वारा आत्मा के वीर्य—शक्ति का घात होता है। आत्मा के मूल गुणो को आवृत करने, घात करने से इन चार को घाती कर्मप्रकृति कहते है। इन चार घाती प्रकृतियो के उत्तर भेदो मे से कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो आंशिक—एकदेश-घात करती हैं, अत उनको देशघाती और कुछ पूर्णत-सर्वांश घात करने वाली होने से सर्वघाती कही जाती हैं।

अघाती कर्मप्रकृतिया आत्मा के किसी गुण का घात नही करती हैं, लेकिन वे आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती है जो उसका निजी नही है, अपितु पौद्गलिक-भौतिक है। वेदनीय अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुख का कारण है। आयु से आत्मा को नारकादि विविध भवो की प्राप्ति होती है। नाम के द्वारा

जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते है और गोत्र प्राणियो के उच्चत्व नीचत्व का कारण होता है।

उक्त घाती और अघाती रूप मे कही गई ज्ञानावरण आदि मूल कर्मो की कुल मिलाकर १५८ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१)	ज्ञानावरणीय कर्म	५
(२)	दर्शनावरणीय कर्म	९
(३)	वेदनीय कर्म	२
(४)	मोहनीय कर्म	२८
(५)	आयु कर्म	४
(६)	नाम कर्म	१०३
(७)	गोत्र कर्म	२
(८)	अन्तराय कर्म	५
	योग	१५८

उक्त १५८ प्रकृतियो के नाम और लक्षण इसी ग्रन्थ (कर्मविपाक, प्रथम कर्मग्रन्थ) मे कहे गये है, अत जिज्ञासु जनो द्वारा वहाँ द्रष्टव्य हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के मतिज्ञानादि ज्ञानगुण को आवृत करता है, जिससे वह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का स्पष्ट रूप मे ज्ञान करने मे समर्थ नही होता है।

दर्शनावरणीय कर्म के कारण आत्मा पदार्थों के सामान्य बोधरूप होने वाले दर्शन को नही कर पाता है।

दर्शनावरणीय कर्म का कार्य होने से इसमे निद्रा आदि पाँच निद्राओ को भी ग्रहण किया गया है। इनके सद्भाव मे भी आत्मा सामान्यावलोकनरूप कार्य करने मे अक्षम रहता है।

वेदनीय कर्म के उदय से अनुकूल-प्रतिकूल विषयजन्य सुख-दुःख का वेदन तो होता रहता है, किन्तु आत्मा को विषय-निरपेक्ष स्वस्वरूप-सुख का वेदन नही हो पाता है।

मोहनीय कर्म के द्वारा आत्मा के तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व और यथार्थ

स्वरूप प्राप्ति रूप चारित्र की प्राप्ति नही होती है। मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो मुख्य उत्तर भेद हैं और इन दो उत्तर भेदो मे से सम्यक्त्व मोहनीय के तीन और चारित्र मोहनीय के कपाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय और इन दोनो मे से कपाय मोहनीय के सोलह तथा नोकषाय मोहनीय के नौ भेद होते हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म के सम्यक्त्व मोहनीय के तीन, कपाय-मोहनीय के सोलह और नोकपाय मोहनीय के नौ भेद मिलाने से कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

आयु कर्म के सद्भाव से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है। आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तो से जो आयु कम हो जाती है, अर्थात् नियत समय से पूर्व समाप्त हो जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। इसको प्रचलित भाषा मे अकालमरण भी कहते हैं। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो अर्थात् नियत समय पर समाप्त हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। आयुकर्म के चार भेद हैं।

नाम कर्म के कारण प्राणियो मे शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है और जिससे उनका वह नाम कहलाता है। इसकी एक सौ तीन प्रकृतियाँ हैं। ये प्रकृतियाँ—पिण्ड प्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक इन चार भागो मे विभक्त हैं।

गोत्र कर्म के उदय से जीव उत्तम अथवा नीच कुल मे जन्म लेता है। उत्तम कुल का अर्थ है सस्कारी एव सदाचारी कुल और नीच कुल का अर्थ है असस्कारी एव आचारहीन कुल।

अन्तराय कर्म के कारण जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य-शक्ति मे चाहते हुए भी रुकावट आती है।

इन आठो कर्मो के उत्तर भेद कुल मिलाकर १५८ होते हैं। उनकी सख्या पहले बताई जा चुकी है।

प्रदेशबन्ध का वर्णन

जीव अपनी कायिक आदि क्रियाओ द्वारा जितने कर्मप्रदेशो, अर्थात् कर्मपरमाणुओ का सग्रह करता है, उसको प्रदेशबध कहते हैं। वे प्रदेश विविध प्रकार के कर्मो मे विभक्त होकर आत्मा के साथ सबद्ध रहते हैं। उनमे

से आयुकर्म को मवसे कम हिस्सा और आयुकर्म की अपेक्षा नाम कर्म को कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। गोत्र कर्म का हिस्सा नाम कर्म के वरावर है। इमसे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय को प्राप्त होता है। इन तीनो का भाग समान रहता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म को प्राप्त होता है और सवसे अधिक भाग वेदनीय कर्भ को मिलता है। इन प्रदेशो का पुन उत्तर प्रकृतियो मे विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के वद्ध कर्म के प्रदेशो की न्यूनाधिकता का यही आधार है।

स्थिति वन्ध का वर्णन

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की अधिकतम और न्यूनतम समय की विभिन्न स्थितियाँ (उदय मे रहने का काल) निम्न प्रकार से कर्म साहित्य मे वतलाई गई हैं—

कर्म-नाम	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
(१) ज्ञानावरणीय	३० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
(२) दर्शनावरणीय	,,	,,
(३) वेदनीय	,,	१२ मुहूर्त
(४) मोहनीय	७० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
(५) आयु	३३ मागरोपम	,,
(६) नाम	२० कोटाकोटि मागरोपम	८ मुहूर्त
(७) गोत्र	,,	८ मुहूर्त
(८) अन्तराय	३० ,,	अन्तर्मुहूर्त

मागरोपम आदि समय के विविध भेदो के स्वरूप को समझने के लिए अनुयोगद्वार आदि सूत्रो का अवलोकन करना चाहिए। इममे कालगणना विषयक जैन मान्यता का ज्ञान प्राप्त हो मकेगा।

अनुभागवध (तीव्रता-मदता) का वर्णन

कर्मफल की तीव्रता और मदता का आधार तन्निमित्तक कपायो की तीव्रता और मदता है। यदि प्राणी जितनी अधिक कषाय की तीव्रता मे युक्त होगा, उसके पापकर्म अर्थात् अशुभ कर्म उतने ही प्रवल एव पुण्यकर्म अर्थात शुभकर्म

उतने ही निर्बल होंगे और इसके विपरीत जो प्राणी जितना कषाय से मुक्त एव विशुद्ध परिणाम वाला होगा, उसके पुण्यकर्म उतने ही अधिक प्रबल एव पाप-कर्म उतने ही अधिक निर्बल होगे ।

जैन-कर्मशास्त्र के अनुसार कर्मफल की तीव्रता और मन्दता के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण है ।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्मशास्त्र मे कर्म की विविध अवस्थाओ का वर्णन मिलता है । इनका सम्बन्ध कर्म के वध, उदय, परिवर्तन, सत्ता, क्षय आदि से है । जिनका मोटे तौर पर निम्नलिखित ग्यारह भेदो मे वर्गीकरण कर सकते हैं—

(१) वधन, (२) सत्ता, (३) उदय, (४) उदीरणा, (५) उद्वर्तना, (६) अपवर्तना, (७) सक्रमण, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचन और (११) अवाधा ।

(१) **बधन**—आत्मा के साथ कर्मपरमाणुओ का बँधना, अर्थात् नीरक्षीरवत् एक रूप हो जाना वधन कहलाता है । वधन चार प्रकार का होता है—प्रकृति-वध, स्थितिवध, अनुभागवध और प्रदेशवध । इनका वर्णन पहले किया जा चुका है ।

(२) **सत्ता**—वद्ध कर्मपरमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षयपर्यन्त आत्मा मे सबद्ध रहते हैं । इस अवस्था का नाम सत्ता है । इस अवस्था मे कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए भी विद्यमान रहते हैं ।

(३) **उदय**—कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते हैं । उदय मे आनेवाले कर्म-पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं ।

(४) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा कहलाता है । जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा नियत समय से पहले फल पकाये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पहले वद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है । सामान्यतया जिस कर्म का उदय चालू रहता है, उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सभव होती है ।

(५) **उद्वर्तना**—वद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग—इसका निश्चय वध के माथ विद्यमान कपाय की तीव्रता और मन्दता के अनुसार होता है, उसके वाद की म्थिति-विशेप अथवा भाव-विशेप, अध्यवसाय-विशेप के कारण उस स्थिति के अनुभाग मे वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है। इस स्थिति को उत्कर्पण भी कहते है।

(६) **अपवर्तना**—यह अवस्था उद्वर्तना से विलकुल विपरीत है। वद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग मे अध्यवसाय विशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है। इसका दूसरा नाम अपकर्पणा भी है।

उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनो अवस्थाओ की मान्यता से यही सिद्ध होता है कि अध्यवसाय विशेप से किसी कर्म की म्थिति एव फल की तीव्रता, मन्दता मे परिवर्तन भी हो मकता है।

(७) **सक्रमण**—एक प्रकार के कर्मपरमाणुओ की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के परमाणुओ की स्थिति आदि मे परिवर्तन अथवा परिणमन होना मक्रमण कहलाता है।

यह मक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियो मे-ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियो मे नही। सक्रमण सजातीय प्रकृतियो मे ही माना गया है, विजातीय प्रकृतियो मे नही होता है। सजातीय प्रकृतियो के सक्रमण मे भी कुछ अपवाद हैं, जैसे कि आयु कर्म की नरकायु आदि चारो आयुओ मे परस्पर सक्रमण नही होता और न दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय मे।

(८) **उपशमन**—कर्म की जिस अवस्था मे उदय अथवा उदीरणा सभव नही होती, उसे उपशमन कहते हैं। इम अवस्था मे भी उद्वर्तना, अपवर्तना और मक्रमण की समावना का अभाव नही होता। उपशमन अवस्था मे रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय मे आकर फल प्रदान करना शुरू कर देता है।

(९) **निधत्ति**—कर्म की उदीरणा और सक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति को निधत्ति कहते हैं। इस स्थिति मे उद्वर्तना और अपवर्तना की समावना रहती है।

(१०) **निकाचन**—उद्वर्तना, अपवर्तना, सक्रमण और उदीरणा इन चार

अवस्थाओ के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है। इस अवस्था का अर्थ है कि कर्म का जिस रूप मे वध हुआ, उसी रूप मे उसे अनिवार्यत मोगना। इम अवस्था का नाम नियति भी कह मकते है। किसी-किसी कर्म की यह अवस्था भी होती है।

(११) अबाध—कर्म के बँधने के वाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना, अवाध अवस्था है। इस अवम्था के काल को अवाधा काल कहते हैं।

अन्य-अन्य दार्शनिक परम्पराओ मे उदय के लिए प्रारव्ध, मत्ता के लिए सचित, वधन के लिए आगामी या क्रियमाण, निकाचन के लिए नियत विपाकी, सक्रमण के लिए आवापगमन, उपशमन के लिए तनु आदि शव्दो का प्रयोग उपलव्ध होता है।

वध, उदय-उदीरणा, सत्ता का स्पष्टीकरण

आठ कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। उनमे मे वध आदि मे कितनी-कितनी प्रकृतिया होती हैं, इसका विशद वर्णन जैन कर्मशाम्त्रो मे किया गया है। तदनुसार वध मे १२०, उदय और उदीरणा मे १२२ और मत्ता मे १५८ प्रकृतियाँ मानी गई हैं।

उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि सत्ता मे तो समस्त १५८ प्रकृतियाँ होती हैं, जवकि उदय और उदीरणा मे १५ ववन और ५ सघातन नाम कर्म की २० प्रकृतियाँ अलग से नही गिनी जाती, किन्तु इनका औदारिक आदि पाँच शरीर नामकर्मों मे ही समावेश कर दिया जाता है तथा वर्ण गध, रस और स्पर्श-नाम कर्म की इन चार पिंड प्रकृतियो की २० उत्तर प्रकृतियो के स्थान पर केवल वर्ण, गध, रस और स्पर्श ये चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई हैं। इम प्रकार कुल १५८ प्रकृतियो मे से नाम-कर्म की ३६ (२० और १६) प्रकृतियाँ कम कर देने मे १२२ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जो उदय और उदीरणा मे आती हैं। वधावस्था मे १२० प्रकृतियो का अम्तित्व मानने का कारण यह है कि उदय-उदीरणायोग्य १२२ प्रकृतियो मे से दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का अलग से वध न होकर सिर्फ मिथ्यात्व मोहनीय के रूप मे ही वध होता है, क्योकि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र (मम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय की ही विशोधित

अवस्थाएँ हैं। अतएव इन दो प्रकृतियो को उदय-उदीरणा की उपर्युक्त १२२ प्रकृतियो मे से कम कर देने पर १२० प्रकृतियाँ शेष बचती हैं, जो बधावस्था मे विद्यमान रहती हैं। निम्नलिखित तालिका से सत्ता आदि अवस्थाओ मे विद्यमान रहनेवाली प्रकृतियो की सख्या का स्पष्टतया परिज्ञान हो जाता है—

कर्म का नाम	बध	उदय-उदीरणा	सत्ता
(१) ज्ञानावरणीय कर्म	५	५	५
(२) दर्शनावरणीय कर्म	६	६	६
(३) वेदनीय कर्म	२	२	२
(४) मोहनीय कर्म	२६	२८	२८
(५) आयु कर्म	४	४	४
(६) नाम कर्म	६७	६७	१०३
(७) गोत्र कर्म	२	२	२
(८) अन्तराय कर्म	५	५	५

कर्मक्षय की प्रक्रिया

योग और कषाय के द्वारा प्रतिक्षण ससारी प्राणी कर्मबन्ध करता रहता है, उसी प्रकार कर्मक्षय का भी क्रम निरन्तर चालू रहता है।

कर्म बँधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नही कर देते हैं—कुछ समय ऐसे ही पडे रहते हैं। इस फलहीन स्थिति को आबाधा काल कहते हैं। आबाधा काल के व्यतीत होने पर बद्ध कर्म का फल देना प्रारम्भ होता है, जिसे उदय कहते हैं। प्रत्येक कर्म अपनी बध स्थिति के अनुसार उतने समय तक उदय मे आता है और फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाता है, जिसे निर्जरा कहते हैं, अर्थात् कर्मस्थिति के बराबर ही कर्म-निर्जरा का भी समय है। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं, तब प्राणी सर्वांशत कर्ममुक्त होकर अपने सत्-चित्-आनन्दघन-रूप स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते है।

कर्मों के बध और क्षय का क्रम ससारी जीव के द्वारा सदैव चलता रहता है। समस्त ससारी जीव नरकादि चार गतियो मे से किसी-न-किसी गति के धारक होते हैं, वहाँ उनकी कितनी इन्द्रियाँ होती हैं, कौन-सा शरीर होता है,

कितने योग आदि होते हैं, इस प्रकार का वर्गीकरण जैन-कर्मशास्त्र मे मार्गणा द्वारा किया गया है। मार्गणा के निम्नलिखित चौदह भेद हैं—

गति, इन्द्रिय, शरीर, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी, आहारक। प्रत्येक के साथ मार्गणा शब्द जोड देने से पूरा नाम हो जाता है, जैसे—गति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणा आदि।

इन मार्गणाओ के माध्यम से समस्त ससारी जीवो के शरीर आदि वाह्य स्थिति और आन्तरिक ज्ञान-शक्ति आदि का पूर्णतया वर्गीकरण हो जाता है। जैसे नारक गति वाला जीव है तो उसके कौन-सा शरीर होगा, कितनी इन्द्रियाँ होगी, इस वाह्य स्थिति के साथ ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि की कितनी क्षमता है, स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार की वाह्य और आन्तर स्थिति के होने पर प्रत्येक जीव किस स्थिति वाले कर्मों का वध करता है और क्रमश निर्जरा करते हुए आत्मा मे कहाँ तक विशुद्धता ला सकता है और इस विशुद्धता के फलस्वरूप क्रमश कर्मों के क्षय का क्रम तथा विशुद्धि से प्राप्त गुणो के स्थान आदि का वर्णन कर्मशास्त्र मे गुणस्थानो के माध्यम से किया गया है। ये गुणस्थान भी मार्गणाओ की तरह चौदह होते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र (सम्यग्-मिथ्यादृष्टि), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त सयत, अप्रमत्त सयत, निवृत्ति (अपूर्वकरण), अनिवृत्तवादर सपराय, सूक्ष्म सपराय, उपशान्त कषाय-छद्मस्थ, क्षीणकषायावीतराग-छद्मस्थ, सयोगि केवलि, अयोगि-केवलि। प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोडने से उसका पूरा नाम हो जाता है, जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन गुणस्थान आदि।

ये गुणस्थान जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणो की शुद्धि और अशुद्धि के तरतम भाव से होते हैं। इनमे मिथ्यात्व गुणस्थान अशुद्धतम और अयोग केवलि गुणस्थान शुद्धतम दशा है। ससारी जीव अशुद्धि से शुद्धि की ओर वढते हुए जैसे-जैसे कर्मों का क्षय करता जाता है, वैसे-वैसे शुद्धि भी वढती जाती है और शुद्धि के वढ़ने मे कर्मों का क्षय अधिक और कर्मों का वध कम होता जाता है। वंध कम और क्षय अधिक होने से एक ऐसा समय आ जाता

है, जव ससारी जीव समस्त कर्मो का क्षय करके मुक्त अवस्था को प्राप्त कर जन्म-मरण-रूप ससार से सदा के लिए छूट जाता है।

इस प्रकार से जैन-कर्मशास्त्र मे मार्गणाओ के द्वारा समस्त ससारी जीवो का वर्गीकरण किया गया है और गुणस्थानो के द्वारा क्रमिक शुद्धि का क्रम वतलाते हुए पूर्ण शुद्ध अवस्था का चित्रण है।

कर्मक्षय करने के साधन

यह विचार करना जरूरी है कि जो कर्म-आवृत जीव अपने परमात्मभाव को प्रगट करना चाहते हैं, उनके लिए किन सावनो की अपेक्षा है।

जैन-दर्शन मे परम पुरुषार्थ—मोक्ष पाने के तीन सावन वतलाये गये हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित्र। कही-कही ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा गया है, तो ऐसे स्थलो पर समझना चाहिए कि दर्शन को ज्ञान स्वरूप समझकर उससे भिन्न नही गिना है।

उक्त सन्दर्भ मे यह प्रश्न होता है कि वैदिकदर्शनो मे कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को मोक्ष का साधन माना है, फिर जैनदर्शन मे तीन या दो ही साधन क्यो कहे गये हैं? इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन मे जिस सम्यक् चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमे कर्म और योग—दोनो मार्गों का समावेश हो जाता है, क्योकि सम्यक् चारित्र मे मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जाने वाले उपायो का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्त्विक कार्य ही कर्ममार्ग है और चित्तशुद्धि तथा उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन भक्तिमार्ग है, क्योकि भक्ति मे श्रद्धा का अश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञान-मार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन मे वताये गये मोक्ष के तीन साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र—अन्य दर्शनो के सव साधनो का समुच्चय है।

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व-विषयक विवेचना का साराश

जैनदर्शन मे प्रत्येक कर्म की वध्यमान, सत और उदयमान ये तीन अवस्थाएँ मानी हैं। इन्हे क्रमश वध, सत्ता और उदय कहते हैं। अन्य दार्शनिको ने भी इन तीन अवस्थाओ का भिन्न-भिन्न नामो से कथन किया है। जैनशास्त्र मे

ज्ञानावरणीय आदि रूप से कर्म का आठ तथा एकसौ अट्ठावन भेदो मे वर्गीकरण किया है और इनके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का जैसा खुलासा किया है, वैसा किसी अन्य दर्शन मे नही किया गया है। पातजलदर्शन मे कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बताये गये हैं, किन्तु जैनदर्शन मे कर्म के सम्बन्ध मे किये गये विचार के सामने यह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बंध कैसे होता है? किन-किन कारणो से होता है? किस कारण से कर्म मे कैसे शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक-से-अधिक और कम-से-कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म कितने समय तक विपाक देने मे असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नही? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म परिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म अन्य कर्म रूप कब बन सकता है? उसकी बंधकालीन तीव्र-मन्द शक्तिया किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म पहले ही कब और किस प्रकार भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान कर्म क्यो न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामो से कैसे रोक दिया जाता है? कभी-कभी आत्मा के शतश प्रयत्न करने पर भी क्या कर्म का विपाक बिना भोगे नही छूटता? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह भोक्ता है? इतना होने पर भी वस्तुत आत्मा मे कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नही है? सक्लेश रूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस प्रकार डाल देते हैं? आत्मा वीर्य शक्ति के आविर्भाव द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस प्रकार उठा फेंक देता है? स्वभावत शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलीन-सा दीखता है? बाह्य हजारो आवरणो के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस प्रकार नही होता है? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मो को भी किस तरह हटा देता है? वह अपने वर्तमान परमात्म भाव को देखने के लिए जिस समय उत्सुक होता है, उस समय उसके और अतराय भूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है? अन्त मे वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामो से बलवान कर्मो

को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कटक करता है ? आत्ममन्दिर मे वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने मे सहायक परिणाम, जिन्हे 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते है, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध परिणाम तरग-माला के वैद्युतिक यत्र से कर्म के पहाडो को किम प्रकार चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी गुलाट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिए दबे होते हैं, प्रगतिशील आत्मा को किम तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म वध की व उदय की अपेक्षा आपम मे विरोधी है ? किस वध का वध किम अवस्था मे अवश्यभावी और किस अवस्था मे अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किम हालत मे अनियत है ? आत्मसबद्ध अतीन्द्रिय कर्म किम प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्गलो को खीचता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करता है ? इत्यादि सख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक विस्तृत वर्णन जैन-कर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नही किया जा सकता है ? यही कर्म तत्त्व के विषय मे जैन दर्शन की विशेषता है।

भारतीय दर्शन-साहित्य मे कर्मवाद का स्थान

श्रमण भगवान् महावीर तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन मे स्याद्वाद, अहिंसावाद आदि वाद जैसे इसके महत्त्वपूर्ण अगरूप हैं, वैसे ही और इतने ही प्रमाण मे कर्मवाद भी उसका प्रधान अग है। स्याद्वाद और अहिंसावाद की व्याख्या और वर्णन मे जैसे जैनदर्शन ने विश्व-साहित्य मे एक दृष्टिकोण अकित किया है, उसी प्रकार कर्मवाद के व्याख्यान मे भी उसने उतना ही कौशल और गौरव प्रदर्शित किया है। यही कारण है कि जैनदर्शन द्वारा की गई कर्मवाद की शोध और उसकी व्याख्या—इन दोनो को भारतीय दर्शन-साहित्य मे उसके अनेकान्तवाद, अहिंसावाद आदि वादो के समान चिरस्मरणीय महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

जैनदर्शन मे कर्मवाद का स्थान

सामान्यतया ऐसी मान्यता है कि जैनदर्शन कर्मवादी है। यद्यपि यह मान्यता असत्य तो नही है, तथापि इस मान्यता की ओट मे एक ऐसी भ्रान्ति

उत्पन्न हुई है कि जैनदर्शन मात्र कर्मवादी है। इस सम्बन्ध मे कहना चाहिए कि जैनदर्शन मात्र कर्मवादी है, ऐसा नही है, परन्तु वह सक्षेप मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के—

कालो सहाव नियई पुव्वकयं पुरिसकारणे गता।
मिच्छत्त ते चेवा समासओ होई सम्मत्त॥

—इस कथन के अनुसार कालवाद, स्वभाववाद आदि पाँच कारणवाद को मानने वाला दर्शन है। कर्मवाद उक्त पाँच कारणवादो मे से एक वाद है। फिर भी उक्त भ्रान्त मान्यता उत्पन्न होने का मुख्य कारण यही है कि जैनदर्शन के द्वारा मान्य किये गये उक्त पाँच वादो मे से कर्मवाद ने साहित्य-क्षेत्र मे इतना स्थान रोक रखा है कि उसका शताश जितना स्थान दूसरे किसी वाद ने नही रोका है। इससे ज्ञात हो सकेगा कि जैनदर्शन मात्र कर्मवाद को ही मानने वाला दर्शन नही है। परन्तु वह सक्षेप मे पाँच कारणवाद को माननेवाला अनेकान्त-वादी दर्शन है।

मौलिक जैन-कर्मसाहित्य

जैन-कर्मवाद का स्वरूप और उसकी व्याख्या वर्तमान मे विद्यमान जैनागमो मे पृथक्-पृथक् रूप से अमुक प्रमाण मे सकेत रूप होने से वह जैन कर्मवाद की महत्ता के प्रकाशन मे अगरूप नही बन सकती है। इसी प्रकार जैन-आगमो मे से कोई आगम ऐसा नही है, जो केवल कर्मवाद विषयलक्षी हो। इस स्थिति मे सब कोई को यह जिज्ञासा सहज ही होती है और होनी चाहिए कि तब जैन-दर्शन के अगभूत कर्मवाद के व्याख्यान का मूलस्थान कौन-सा है। इस विषय मे जैन-कर्मवाद-विषयक साहित्य के व्याख्याता और प्रणेताओ का यह उत्तर है कि जैन-कर्मवाद विषयक पदार्थों का मूलभूत विस्तृत और सम्पूर्ण व्याख्यान कर्मप्रवाद पूर्व मे, अर्थात् कर्मप्रवादपूर्व नामक महाशास्त्र मे किया गया है। इस महाशास्त्र के आधार पर हमारा कर्मवाद का व्याख्यान, ग्रथ रचना आदि है। आज यह मूल महाशास्त्र काल के प्रभाव से विस्मृति और विलुप्ति के मुख मे चला गया है। आज हमारे समक्ष विद्यमान कर्मवाद-विषयक साहित्य पूर्वोक्त महाशास्त्र के आशय के आधार पर निर्माण किया गया अश रूप साहित्य है। उक्त बताई गई महाशास्त्र की विस्मृति और अभाव मे कर्म-साहित्य के निर्माताओ को कर्मवाद

विपयक कितनी ही वस्तुओ के व्याख्यान प्रसग-प्रसग पर छोड देने पडे और कितनी ही वस्तुओ के विसवादी प्रतीत होने वाले वर्णन श्रुतधरो पर छोड दिये गये हैं।

जैन कर्मसाहित्य के प्रणेता

जैन-कर्म सिद्धान्त-विपयक साहित्य के पुरस्कर्ता आचार्य श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो परम्पराओ मे विभाजित हो जाते हैं, फिर भी कर्मवाद का व्याख्यान और वर्णन एक ही रूप मे रहा। यही कारण है कि प्रत्येक तात्त्विक विपय मे दोनो ही परम्पराएँ समान तत्रीय मानी जाती हैं। इस साहित्य की विशेपता के विपय मे भी दोनो परम्पराएँ समानान्तर पर हैं। इसके अतिरिक्त ग्रथकर्ताओ के क्षयोपशमानुसार ग्रथ-रचना और वस्तुवर्णन मे सुगमता-दुर्गमता, न्यूनाधिकता, विशदता-अविशदता होगी और हो सकती-है। लेकिन यथार्थ रीति से देखने पर दोनो मे से किसी का भी कर्मवादविपयक साहित्य का गौरव कम नही माना जा सकता है। अवसरानुसार जैसा प्रत्येक विपय मे होता है, वैसा ही कर्मवाद-विषयक साहित्य मे भी दोनो सम्प्रदायो ने एक दूसरे की वस्तु ली है, वर्णन की है और तुलना भी की है। ऐसा करना यही सिद्ध करता है कि कर्म-वाद-विपयक साहित्य मे दोनो मे से किसी एक का गौरव कम नही है। दोनो सम्प्रदायो मे कर्मवाद-विपयक निष्णात अनेक आचार्य हुए हैं, जिनके वक्तव्य मे कही भी स्खलना नही आती है। कर्मप्रकृति, पचसग्रह जैसे समर्थ ग्रथ, उनका वर्ण्य विषय और उनका नामकरण आदि मे भी दोनो सम्प्रदाय समानस्तर पर हैं। श्वेताम्बर सप्रदाय मे आचार्य शिवशर्मसूरि, चूर्णिकार आचार्य श्री चन्दर्षि महत्तर, श्री गर्गर्षि, नवागीवृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेवसूरि, श्री मुनि चन्द्रसूरि, मल्लधारि श्री हेमचन्द्राचार्य, श्री चक्रेश्वरसूरि, श्री धनेश्वराचार्य, खरतर आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि, आचार्य मलयगिरि, श्री यशोदेवसूरि, श्री परमानन्द-सूरि, बृहद्गच्छीय श्री हरिभद्रसूरि, श्री रामदेव, तपागच्छीय आचार्य श्री देवेन्द्र-सूरि, श्री उदयप्रभ, श्री गुणरत्नसूरि, श्री मुनिशेखर, आगमिक श्री जयतिलकसूरि, न्यायविशारद न्यायाचार्य महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि अनेक मौलिक एव व्याख्यात्मक कर्मवाद-विपयक साहित्य के प्रणेता और व्याख्याता निष्णात आचार्य व स्थविर हो गये हैं।

महान् आचार्य श्री सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपच कथा, मलधारी हेमचन्द्र-सूरि की भवभावना, मन्त्री यशपाल का मोहराज-पराजय नाटक, महामहोपाध्याय यशोविजयजी की वैराग्य कल्पलता आदि जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त को अति सूक्ष्मता से प्रस्तुत करनेवाली कृतियाँ भारतीय साहित्य मे अद्वितीय स्थान शोभित कर रही हैं, जो जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त के लिए गौरवणीय है। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी श्री पुष्पदन्ताचार्य, श्री भूतवलि आचार्य, श्री कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य, श्री गुणधराचार्य, श्री यति-वृषभाचार्य, श्री वीरसेनाचार्य, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि कर्मवाद विषयक साहित्य के प्रमुख व्याख्याता पारगत आचार्य और स्थविर हुए हैं। दोनो सम्प्रदाय के विद्वान् ग्रथकारो ने कर्मवाद-विषयक साहित्य को प्राकृत-मागधी, सस्कृत एव लोक-भाषा मे अकित करने का एक-जैसा प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर आचार्यो ने कर्मप्रकृति, पचसग्रह, प्राचीन-अर्वाचीन कर्मग्रथ और उनके ऊपर चूर्णि, भाष्य, टीका अवचूर्णि, टिप्पण, टब्बा आदि रूप विशिष्ट कर्म साहित्य का सृजन किया है, जबकि दिगम्बर आचार्यों ने महाकर्म प्रकृति प्राभृत, कषाय-प्राभृत, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार, पचसग्रह आदि शास्त्र और उस पर मागधी, सस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओ मे व्याख्यात्मक विशाल कर्म साहित्य की रचना की है। कर्मवाद विषयक उपर्युक्त उभय परम्परा से सम्बन्धित साहित्य मे अनेक प्रकार की विशेषताए होने पर भी एक दूसरे सम्प्रदाय के साहित्य की तरफ दुर्लक्ष्य करना या उपेक्षा करना यह कर्म-विषयक अपूर्व ज्ञान से वचित रहने जैसी ही वात है। अन्त मे सक्षेप मे इतना ही सकेत करते है कि जैनदर्शन मान्य कर्मवाद को पुष्ट बनाने मे दोनो सम्प्रदायो ने एक महत्त्वपूर्ण योग दिया है।[1]

कर्मशास्त्र का परिचय

वैदिक और बौद्ध साहित्य मे कर्म सम्बन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प

---

१ श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मवाद विषयक साहित्य का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिये श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित और श्री चतुरविजयजी महाराज द्वारा सपादित 'सटीकश्चत्त्वार प्राचीन कर्म-ग्रन्था' की प्रस्तावना देखें।

है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य मे दृष्टिगोचर नही होता है। लेकिन जैन दर्शन मे कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत है। अतएव उन विचारो के प्रतिपादक शास्त्र ने जिसे कर्मशास्त्र या कर्म विषयक साहित्य कहते हैं, जैनसाहित्य के बहुत बडे भाग को रोक रखा है। कर्मसाहित्य को जैन साहित्य का हृदय कहना चाहिए। यो तो अन्य विषयक जैन ग्रन्थो मे भी कर्म की थोडी-बहुत चर्चा पाई जाती है परन्तु उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान् महावीर ने कर्मवाद का उपदेश दिया है और उसकी परम्परा अभी तक चली आ रही है। लेकिन सम्प्रदाय-भेद, सकलना और भाषा की दृष्टि मे उसमे कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

(१) **सम्प्रदाय-भेद**—भगवान महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओ मे विभक्त हुआ। उस समय कर्मशास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय-भेद की नीव इस सुदृढता से पडी कि जिससे भगवान महावीर के उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिलकर विचार करने का अवसर दोनो सम्प्रदायो के विद्वानो को कभी प्राप्त नही हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय मे कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दो मे, उनकी व्याख्याओ मे और कही-कही तात्पर्य मे थोडा-बहुत भेद हो गया, जिसकी परम्परा आज भी पूर्ववत् चल रही है। भेद बिन्दुओ को यथास्थान आगे प्रस्तुत करेंगे।

(२) **सकलना**—भगवान महावीर के समय से अब तक कर्मशास्त्र की जो उत्तरोत्तर सकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं—(क) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (ख) पूर्व से उद्धृत (आकर रूप कर्मशास्त्र), और (ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(क) **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सबसे बडा और सबसे पहला है, क्योकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व विद्या विच्छिन्न नही हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीब नौ सौ या एक हजार वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह मे से आठवाँ पूर्व जिसका नाम कर्मप्रवाद है, मुख्यतया कर्मविषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे पूर्व 'अग्रायणीय' मे भी कर्मतत्त्व के विचार का एक कर्म-प्राभृत

नामक भाग था। इस समय श्वेताम्वर या दिगम्वर साहित्य मे पूर्वात्मक कर्म-शास्त्र का मूल अश वर्तमान नही है।

(ख) पूर्व से उद्घृत (आकर रूप) कर्मशास्त्र—यह विभाग पहने विभाग से वहुत छोटा है, तथापि वर्तमान अभ्यासियो के लिए इतना वडा है कि उसे आकर कर्मशास्त्र कहना पडता है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्वृत है, ऐसा उल्लेख श्वेताम्वर-दिगम्वर—दोनो के ग्रन्थो मे पाया जाता है। पूर्व से उद्घृत किये गये कर्मशास्त्र का अश दोनो सम्प्रदायो मे अभी वर्तमान है। उद्वार के समय सम्प्रदाय-भेद रूढ हो जाने से उद्धृत अश दोनो सम्प्रदायो मे कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे—(१) कर्म प्रकृति, (२) शतक, (३) पचसग्रह और (४) सातनिका—ये चार ग्रथ और दिगम्वर सम्प्रदाय मे—(१) महाकर्म प्रकृति प्राभृत तथा (२) कषाय प्राभृत—ये दो ग्रथ पूर्वोद्धृत माने जाते है।

(ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग तीसरी सकलना का फल है। इसमे कर्मविपयक छोटे-वडे अनेक प्रकरण ग्रथ सम्मिलित है। इन्ही प्रकरण ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेपतया प्रचलित है। इन प्रकरण-ग्रन्थो को पढने के वाद मेधावी अभ्यासी आकर-ग्रन्थो को पढते हैं। आकर-ग्रन्थो मे प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक विभाग का अध्ययन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी से लेकर सोलहवी-सत्तरहवी शताब्दी तक मे निर्मित व पल्लवित हुआ है।

भापा—भाषा की दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं—(क) प्राकृतभाषा, (ख) सस्कृतभापा और (ग) प्रचलित प्रादेशिक भापा।

(क) प्राकृत भाषा—पूर्वात्मक और पूर्वोद्घृत कर्मशास्त्र प्राकृत भापा मे वने है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी वहुत वडा भाग प्राकृत भापा मे ही रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भापा मे है।

(ख) संस्कृत भाषा—पुराने समय मे जो कर्मशास्त्र वना है, वह सव प्राकृत भाषा मे ही है, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा मे भी कर्मशास्त्र की रचना होने लगी। वहुतकर संस्कृत भाषा मे कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखी गई हैं। परन्तु कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनो सम्प्रदायो मे ऐसे भी हैं, जो संस्कृत भाषा मे रचे गये हैं।

(ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषा—प्रचलित प्रादेशिक भाषाओ मे मुख्यतया—कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी हिन्दी— इन तीन भाषाओ का समावेश है। इन भाषाओ मे मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के है। इन भाषाओ का उपयोग मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने मे ही किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओ मे वही टीका-टिप्पण, अनुवाद आदि है जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र विभाग पर लिखे गये हैं। कर्णाटिकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्वर साहित्य ने लिया और गुजराती व राजस्थानी भाषा श्वेताम्वर साहित्य मे प्रयुक्त हुई।

कर्मविपाक ग्रन्थ · ग्रन्थ का परिचय

विश्व मे प्रतिष्ठित धर्मों का साहित्य दो भागो मे विभाजित है—(१) तत्त्वज्ञान, (२) आचार व क्रिया। ये दोनो विभाग एक दूसरे से विलकुल अलग नही हैं। इनका सम्वन्ध वैसा ही है, जैसा शरीर मे नेत्र-और हाथ-पैर आदि अन्य अवयवो का। जैन-साहित्य भी तत्त्व ज्ञान और आचार इन दोनो विभागो मे वँटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से सम्वन्ध रखता है। यो तो जैन दर्शन मे अनेक तत्वो पर विविध दृष्टियो से विचार किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ मे उन सवका वर्णन नही है। प्रधानतया कर्मतत्त्व का वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी-न-किसी रूप मे कर्म को मानते हैं। परन्तु जैन-दर्शन इस सम्वन्ध मे अपनी असाधारण विशेषता रखता है। इसलिए इस ग्रन्थ को जैनदर्शन की विशेषता का, जैनदर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना चाहिए।

इस ग्रन्थ का अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णन क्रम, रचना का मूलाधार, परिभाषा और कर्ता आदि वातो की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ'— इन दो नामो मे से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने आदि मे 'कम्मविवाग समासओ वुच्छं' तथा अन्त मे 'इअ कम्मविवागोऽयं' इस कथन से स्पष्ट कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कही भी नही किया है। दूसरा नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थो मे यह पहला है, इसके पढे विना कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणो मे प्रवेश नही हो सकता है। यह नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढने-पढाने वाले तथा अन्य लोग प्राय इसी नाम का व्यवहार करते हैं। पहला कर्मग्रथ इस प्रचलित नाम मे मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्ध हो गया है कि कर्मविपाक कहने से वहुत-से लोग कहने वाले का आशय ही नही समझते हैं। यह वात इस प्रकरण के विषय मे ही नही, वल्कि कर्मस्तव आदि आगे के प्रकरणो के वारे मे चरितार्थ होती है, अर्थात् कर्मस्तव, कर्मस्वामित्व, षडशीतिका, शतक और सप्ततिका कहने मे क्रमश दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण का मतलव वहुत कम लोग समझेंगे, परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा कर्मग्रन्थ कहने से सव लोग कहने वाले का भाव समझ लेंगे।

विषय—इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय कर्म तत्त्व है, परन्तु इसमे कर्म से सम्वन्ध रखने वाली अनेक वातो पर विचार न करके प्रकृति अश पर ही विचार किया गया है, अर्थात् कर्म की सव प्रकृतियो का विपाक ही इसमे मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी कर्मविपाक रखा गया है।

वर्णनक्रम—इस ग्रन्थ में सवसे पहले यह दिखाया गया है कि कर्मवन्ध स्वाभाविक नही, किन्तु सहेतुक है। इसके वाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण वताने के लिए उसे चार अशो मे विभाजित किया गया है—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) रस और (४) प्रदेश। इसके वाद आठ प्रकृतियो के नाम और उनके उत्तर-भेदो की सख्या वताई गई है। अनन्तर ज्ञानावरणीय कर्म के स्वरूप को दृष्टान्त, कार्य और कारण द्वारा दिखाने के लिए प्रारम्भ मे ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदो और उनके अवान्तर भेदो को सक्षेप मे परन्तु तत्त्व रूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का सदृष्टान्त स्पष्टीकरण किया है।

अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। बाद मे उसके भेदो को दिखाते हुए दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है। दर्शनावरणीय कर्म के भेदो मे पाँच प्रकार की निद्राओ का सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप सक्षेप मे, पर, बडी मनोरजकता मे वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुख-दुख-जनक वेदनीय कर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म, अक्षय जीवन के विरोधी आयुकर्म, गति, आदि अनेक अवस्थाओ के जनक नाम-कर्म, उच्च-नीच गोत्र जनक गोत्र कर्म और लाभ आदि मे रुकावट डालने वाले अन्तराय कर्म तथा उनके प्रत्येक कर्म के भेदो का थोडे मे किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त मे प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है तथा प्रसगवश इसमे जो कुछ कहा गया है, उस सबको सक्षेप मे पाँच भागो मे बाँट सकते हैं—

(१) प्रत्येक कर्म प्रकृति आदि चार अशो का कथन, (२) कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ, (३) पाँच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, (४) सब प्रकृतियो का दृष्टान्त पूर्वक कार्यकथन और (५) सब प्रकृतियो के कारण का कथन।

आधार—बीज-रूप से इस ग्रन्थ का आधार पन्नवणा, भगवती, नन्दी, अनुयोग द्वार आदि आगम हैं। आगमगत कर्मसिद्धान्त को ही आचार्य ने अपनी कुशल प्रतिपादन शैली द्वारा पल्लवित किया है। आगमो के बाद इसका साक्षात् आधार गर्ग ऋषि का बनाया हुआ प्राचीन कर्मविपाक है और कर्म प्रकृति, पच सग्रह आदि प्राचीन ग्रन्थो का भी आधार लिया गया है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथा प्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र मे प्रवेश करने वालो के लिए बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिए इसका सक्षेप केवल ६१ गाथाओ मे कर दिया गया है। इतना सक्षेप होने पर भी इसमे प्राचीन कर्मविपाक की कोई भी मुख्य और तात्त्विक बात नही छूटी है। सक्षेप करने मे ग्रन्थकार ने यहाँ तक ध्यान रखा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक मे नही, इस ग्रन्थ मे समाविष्ट कर दिया है, उदाहरणार्थ—श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद तथा आठ कर्म प्रकृतियो के बन्ध हेतु प्राचीन कर्म-विपाक मे नही हैं, किन्तु उनका वर्णन इसमे है। सक्षेप करने मे ग्रन्थकार ने इस ओर

भी ध्यान रखा है कि जिस एक वात का वर्णन करने से अन्य वाते भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सके, वहाँ उसी वात को वतलाना, अन्य को नही। इस अभिप्राय से प्राचीन कर्मविपाक मे जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया हैं, वैसे इस ग्रन्थ मे नही दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य मे कुछ भी कमी नही की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण मे हो गया है। इसके पढने वाले प्राचीन कर्मविपाक को विना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ सक्षेप रूप होने से सबको मुखपाठ करने व याद करने मे वडी आसानी होती है।

भाषा—इस कर्मग्रन्थ और इससे आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थो की मूल भापा प्राकृत है। मूल गाथाएँ ऐसी सुगम भापा मे रची गई हैं कि पढने वालो को थोडा वहुत सस्कृत का वोध हो, और उन्हें कुछ प्राकृत के नियम समझा दिये जाएँ तो वे मूल गाथाओ के ऊपर से ही विपय का परिज्ञान कर सकते है। इनकी टीका सस्कृत मे है और वडी विशदता से लिखी गई है, जिससे पढने वालो को वडी सुगमता होती है।

ग्रन्थकार की जीवनी

समय—प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता श्री देवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की तेरहवी शताब्दी का अन्त और चौदहवी शताब्दी का प्रारम्भ काल है। उनका स्वर्गवास विक्रम सवत् १३२७ मे हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावली (श्लोक १७४) मे स्पष्ट है, परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कही नही मिलता, तथापि यह जान पडता है कि १२८५ मे श्री जगच्चन्द्रसूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तव वे दीक्षित हुए होगे, गच्छ स्थापना के वाद श्री जगच्चन्द्रसूरि के द्वारा ही श्री देवेन्द्रसूरि और श्री विजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वावली के श्लोक १०७ मे है। यह तो मानना ही पडता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और सयम मे स्थविर होंगे, अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खासकर के नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते थे। उनका सूरिपद विक्रम सवत् १२८५ के वाद हुआ। सूरिपद के समय का अनुमान विक्रम सवत् १३०० मान लिया जाए, तव भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के

समय वे नवदीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र पचास या बावन वर्ष की मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि विक्रम सम्वत् १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। विक्रम सम्वत् १३०२ मे उन्होने उज्जयिनी मे श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुए। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र पच्चीस-सत्ताईस वर्ष की मान ली जाए, तब भी उक्त अनुमान—१२७५ वि० स० के लगभग जन्म होने की पुष्टि होती है। अस्तु, जन्म, दीक्षा तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात मे सन्देह नही कि वे विक्रम की तेरहवी शताब्दी के अन्त मे तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे अपने अस्तित्व से भारतवर्ष की और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढा रहे थे।

जन्मभूमि, जाति आदि—श्री देवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश, किस जाति और किस परिवार मे हुआ, इसका प्रमाण नही मिला। गुर्वावली मे उनका जीवन वृत्तान्त है, परन्तु वह बहुत सक्षिप्त है। उसमे सूरिपद ग्रहण करने के बाद की बातो का उल्लेख है, अन्य बातो का नही। इसलिए उसके आधार पर उनके जीवन के सम्बन्ध मे जहाँ-कही उल्लेख हुआ है, वह अधूरा ही है, तथापि गुजरात और मालवा मे उनका विहार इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा मे जन्मे होगे। उनकी जाति व माता-पिता के सम्बन्ध मे साधन के अभाव मे किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश नही है।

विद्वत्ता और चारित्रतत्परता—इसमे कोई सदेह नही कि श्री देवेन्द्रसूरि जैनशास्त्र के गम्भीर विद्वान थे। इसकी साक्षी उनके ग्रथ ही दे रहे हैं। गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान थे और इसी से मत्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य-विद्वान् उनके व्याख्यान मे आया करते थे। विद्वत्ता और ग्रथ-लेखन—ये दो अलग-अलग कार्य हैं और यह आवश्यक नही कि ग्रथ लिखना ही चाहिए। परन्तु देवेन्द्रसूरि का जैनागम विषयक ज्ञान तल-स्पर्शी था, यह बात असदिग्ध है। उन्होने कर्मग्रन्थ, जो नवीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकाए देखने की जिज्ञासा एक तरह से शान्त हो जाती है। सस्कृत और प्राकृत भाषा में रचे हुए उनके अनेक ग्रथ इस

वात की स्पष्ट सूचना करते है कि वे सस्कृत तथा प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्री देवेन्द्रसूरि विद्वान होने के साथ-साथ चारित्र धर्म मे वडे दृढ थे। इसके प्रमाण मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्री जगच्चन्द्रसूरि ने वडे पुरुषार्थ और निस्सीम त्याग से जो क्रियोद्धार किया था, उसका निर्वाह श्री देवेन्द्रसूरि ने किया।

गुरु—श्री देवेन्द्रसूरि के गुरु श्री जगच्चन्द्रसूरि थे, जिन्होंने श्री देवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य प्रारम्भ किया था। इस कार्य मे उन्होने अपनी असाधारण त्याग-वृत्ति दिखाकर औरो के लिए आदर्श उपस्थित किया था।

परिवार—श्री देवेन्द्रसूरि के शिष्य परिवार के वारे मे विशेष जानकारी नही मिलती है। परन्तु इतना लिखा मिलता है कि अनेक सविग्न मुनि उनके आश्रित थे। गुर्वावली मे उनके दो शिष्य श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति का उल्लेख मिलता है। ये दोनो भाई थे। विद्यानन्द नाम सूरिपद के पीछे का है, उन्होने विद्यानन्द नाम का व्याकरण वनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय ने भी जो सूरिपद लेने के वाद धर्मघोष नाम से प्रसिद्ध हुए, कुछ ग्रथ रचे हैं। ये दोनो शिष्य जैनशास्त्रो के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो के भी अच्छे विद्वान थे। इसका प्रमाण उनके गुरु श्री देवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अतिम पद्य से मिलता है। उन्होने लिखा है कि मेरी वनाई हुई इस टीका का श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति—दोनो विद्वानो ने शोधन किया है। श्री देवेन्द्र सूरि के कुछ ग्रन्थो के नाम इस प्रकार हैं—(१) श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति, (२) सटीक पाँच नवीन कर्मग्रथ, (३) सिद्ध पचाशिका सूत्रवृत्ति, (४) धर्मरत्न वृत्ति, (५) सुदर्शन चरित्र, (६) चैत्यवदनादि भाष्यत्रय, (७) वदारुवृत्ति, (८) सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, (९) सिद्धदण्डिका और (१०) सारवृत्तिदशा।

इनमे से प्राय वहुत से ग्रन्थ जैनधर्म-प्रसारक सभा भावनगर, आत्मानन्द सभा भावनगर और देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

—श्रीचन्द सुराना
—देवकुमार जैन

१

कर्मग्रन्थ

[प्रथम भाग]

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मविपाक

[प्रथम कर्मग्रन्थ]

ग्रन्थ प्रारम्भ करने से पूर्व ग्रथ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए मगलाचरण करते हुए ग्रन्थ के नाम और ग्रन्थ मे वर्णित विषय का सकेत करते है—

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥१॥

गाथार्थ—श्री वीर जिनेन्द्र की वन्दना—नमस्कार करके सक्षेप मे 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ को कहूँगा । मिथ्यात्व आदि कारणो से जीव द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते है, अर्थात् जीव द्वारा मिथ्यात्व, कषाय आदि हेतुओ से जो कर्मयोग्य पुद्गल द्रव्य, अपने प्रदेशो के साथ मिला लिया जाता है, वह आत्मसम्बन्ध पुद्गलद्रव्य कर्म कहलाता है ।

विशेषार्थ—कार्य के निर्विघ्न पूर्ण होने के लिए कार्य के प्रारम्भ मे मगलकारी महापुरुषो का स्मरण किया जाता है । अत ग्रन्थकार ने ग्रन्थ प्रारम्भ करने से पूर्व 'सिरि वीर जिण' पद द्वारा श्री वीर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है । श्री वीर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करने का कारण यह है कि उन्होने ग्रन्थ मे वर्णित कर्मो को पूर्ण रूप से नष्ट कर शुद्ध, बुद्ध आत्मा-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है ।

'सिरि वीर जिण'—यह पद श्री वीर जिनेन्द्रदेव के नाम का वोध कराने के साथ-साथ उनकी विशेषताओ का भी वोध कराने वाला है, जैसे कि—

श्री शब्द का अर्थ है, लक्ष्मी। उसके दो भेद हैं—आन्तर् और वाह्य। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणो को अन्तरग लक्ष्मी कहते हैं और (१) अशोकवृक्ष, (२) सुरपुष्पवृष्टि, (३) दिव्यध्वनि, (४) चामर, (५) आसन, (६) भामडल, (७) दुन्दुभि, (८) आतपत्र[1] इन आठ महाप्रातिहार्यो को वाह्य लक्ष्मी कहते हैं।

जव तीर्थङ्कर भगवान् केवलज्ञान प्राप्त कर भव्य मुमुक्षु जीवो के प्रतिवोधनार्थ धर्मदेशना देते हैं तव देव, देवेन्द्र अपना भक्ति-प्रमोद प्रकट करने के लिए उक्त अष्ट प्रातिहार्यो रूप वाह्य लक्ष्मी से युक्त समवसरण की रचना करते हैं।

वीर—वी—विशिष्टा, ई—लक्ष्मी, र—राति-ददाति, आत्मीयत्वेन गृह्णातीति वा वीर। अथवा वी—विशेषेण अनन्तज्ञानादि आत्मगुणान् इर—ईरयति—प्रापयति वा वीर।" यह वीर शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या है। जिसका अर्थ है कि अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के असाधारण-विशेष गुणो को जो प्राप्त करने वाले है और दूसरो को भी इन आत्मिक गुणो को प्राप्त कराने मे समर्थ सहयोगी बन सकते है, वे वीर कहलाते है।

जिन—जयतीति जिन। जिन्होने स्वरूपोपलब्धि मे वाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भावकर्मों को एवं ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मो को जीत लिया है, उन्हे जिन कहते है।

---

१ अशोकवृक्ष सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासन च।
भामण्डल दुन्दुभिरातपत्र मत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

भगवान् श्री वीर जिनेन्द्रदेव उक्त सभी गुणो से युक्त है। इसीलिए ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार ने उन्हे नमस्कार किया है।

इस प्रकार मगलाचरणात्मक पद के शब्दो का अर्थ-गाम्भीर्य प्रदर्शित करके अब ग्रन्थ मे वर्णन किये जाने वाले विषय के बारे मे कहते है।

कर्म की परिभाषा

मिथ्यात्व, विरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशो मे विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशो से सश्लिष्ट हो जाते है, उन्हे कर्म कहते है।[1]

कर्म पौद्गलिक है। जिसमे रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते हैं।[2] पृथ्वी, पानी, हवा, आदि पुद्गल से बने हैं। जो पुद्गल कर्म बनते हैं, अर्थात् कर्म-रूप मे परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज, अर्थात् धूलि हैं, जिसको इन्द्रियाँ (यत्र आदि की मदद से भी) नही जान सकती हैं, किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परम अवधि-ज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जान सकते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्गल जब जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उन्हे कर्म कहते है।

---

१ विसय कसायहि रगियह, जे अणुया लग्गति।
जीव-पएसह मोहियह ते जिण कम्म भणति॥

—परमात्मप्रकाश १।६२

२. (क) स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गला।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र २३

(ख) पोग्गले पचवण्णे पचरसे दुगधे अट्ठफासे पण्णत्ते।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १२, उ० ५, सू० ४५०

जैसे कोई व्यक्ति शरीर मे तेल लगाकर धूलि मे लोटे तो वह धूलि उसके सर्वाङ्ग शरीर मे चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि से जव ससारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्दन—हलन-चलन—होता है, उस समय अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्‌गल परमाणुओ का आत्मप्रदेशो के साथ सम्बन्ध होने लगता है।[1] जिस प्रकार अग्नि से सतप्त लोहे का गोला प्रतिसमय अपने सर्वाङ्ग से जल को खीचता है, उसी प्रकार संसारी—छद्‌मस्थ—जीव अपने मन, वचन, काया की चचलता से मिथ्यात्वादि कर्मवन्ध के कारणो द्वारा प्रतिक्षण कर्मपुद्‌गलो को ग्रहण करता रहता है। और दूध-पानी व अग्नि तथा लोहे के गोले का जैसा सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार का जीव और उन कर्मपुद्‌गलो का सम्वन्व हो जाता है।

जीव मे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। कर्म जीव के इन अनन्त गुणो को आवृत करने के साथ-साथ जन्म-मरण कराने तथा उच्च-नीच आदि कहलाने मे कारण वनते हैं और उन-उन अवस्थाओ मे जीव का अस्तित्व टिकाये रखते है।

जीव और कर्म का सम्वन्ध

जीव और कर्म का सम्वन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) मे सोने और पापाण-रूप मल का मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सम्वन्ध अनादिकालिक है। ससारी जीव का वैभाविक स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और वद्धकर्म का स्वभाव जीव को रागादिरूप से परिणमाने का है। इस

---

१ स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाविलन्नस्य कर्मवन्धो भवत्येनम्॥

—आवश्यक टीका

प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से समझना चाहिए।[1] यदि कर्म और जीव का सादि-सम्वन्ध माना जाए तो ऐसा मानने पर यह दोष आता है कि 'मुक्त जीवो को भी कर्मवन्ध होना चाहिए।'

कर्म-सतति (प्रवाह) की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। किन्तु अनादिकालीन होने पर सान्त (अन्तसहित) भी है और अनन्त (अन्तरहित) भी है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पायेगे, उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्वन्ध है और जिनका कभी मोक्ष न होगा, उनका कर्म के साथ अनादि अनन्त सम्वन्ध है।

कर्मसम्वद्ध जीवो मे से जिन जीवो मे मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता है, उन्हें भव्य और जिनमे यह योग्यता नही है, उन्हे अभव्य कहते है।

यद्यपि सामान्य की अपेक्षा कर्म का एक प्रकार है, किन्तु विशेष की अपेक्षा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार है। उनमे से ज्ञानावरण आदि रूप पौद्गलिक परमाणुओ के पिड को द्रव्यकर्म और उनकी शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावो को भावकर्म कहते है।[2]

कषाय के सम्वन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, किन्तु इसको विशेष रूप में समझाने के लिए—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कपाय और (५) योग, ये पाँचो

---

१ (क) द्वयोरप्यनादिसम्वन्ध कनकोपल-सन्निभ ।
(ख) अस्त्यात्माऽनादितो वद्धा कर्मभि कार्मणात्मकैः ।

—लोकप्रकाश, ४२४

२ पोग्गल-पिंडो दव्व तस्सन्ति भावकम्म तु ।

—गोम्मटसार-कर्मकाण्ड-गाथा

बधहेतुओ के रूप मे प्रसिद्ध हैं।[1] इनकी सक्षिप्त व्याख्या नीचे लिखे अनुसार समझनी चाहिए।

मिथ्यात्व—इसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है। यह सम्यग्दर्शन के उल्टे अर्थवाला होता है, अर्थात् यथार्थ रूप से पदार्थों के श्रद्धान, निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है[2] एव पदार्थों के अ-यथार्थ श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

यह अ-यथार्थ श्रद्धान दो प्रकार से होता है—(१) वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और (२) वस्तु का अ-यथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे प्रकार मे फर्क इतना है कि पहला बिलकुल मूढदशा मे भी हो सकता है, जबकि दूसरा विचारदशा मे ही होता है। विचार-शक्ति का विकास होने पर भी जब दुराग्रह के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर अ-तत्व मे पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है। लेकिन जब विचारदशा जाग्रत नही हुई हो, तब अनादिकालीन आवरण से सिर्फ मूढता होती है। उस समय तत्त्व का श्रद्धान नही होता और वैसे ही अतत्त्व

१ (क) पच आसवदारा पण्णत्ता त जहा—मिच्छत्त अविरई पमाए कसाया जोगा।

—स्थानांग ५।२।४१८

(ख) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बधहेतव ।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र १

२. (क) तहियाण तु भावाण सब्भावे उवएसण।
भावेण सद्दहन्तस्स सम्मत्त त वियाहिय ॥

—उत्तरा०, अ० २८, गा० १५

(ख) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।

—तत्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २

का भी श्रद्धान नही होता है। उस दशा मे सिर्फ मूढता होने से तत्त्व का अश्रद्धान होना कहते हैं। यह नैसर्गिक—परोपदेशनिरपेक्ष—स्वभाव से होने के कारण अनभिगृहीत कहलाता है और जो किसी भी कारण के वश होकर ऐकान्तिक कदाग्रह होता है, उसे अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते है।

अभिगृहीत मिथ्यादर्शन मनुष्य जैसे विकसित प्राणी मे होना सभव है और दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन तो कीट-पतग आदि जैसे अविकसित चेतना वाले प्राणियो में ही सभव है।

अविरति—दोपो—पापो से विरत न होना।

प्रमाद—आत्मविस्मरण होना, अर्थात् कुशल कार्यों मे आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

कषाय—जो आत्मगुणो को कषे—नष्ट करे अथवा जो जन्म-मरण-रूपी ससार को वढावे।

योग—मन-वचन-काया के व्यापार-प्रवृत्ति अर्थात् चलन-हलन को योग कहते है।[1]

यद्यपि ज्ञानावरणादिक कर्मों के विशेप बधहेतु भी वतलाये गये है। जिनका इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र उल्लेख भी किया गया है लेकिन मिथ्यात्वादि योगपर्यन्त ये पाँचो समस्त कर्मो के सामान्यकारण कहलाते है। मिथ्यात्व से लेकर योग तक के इन पाँचो वधहेतुओ मे से जहाँ पूर्व-पूर्व के वधहेतु होगे, वहाँ उसके वाद के सभी हेतु होगे,

---

१ कायवाड्मन कर्म योग।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६ सूत्र १

ऐसा नियम है। जैसे मिथ्यात्व के होने पर अविरति से लेकर योग-पर्यन्त चारों हेतु होगे ही और अविरति के होने पर प्रमाद आदि तीनो होगे। इसी प्रकार क्रमश प्रमाद, कषाय, योग के बारे मे भी समझ लेना चाहिए। परन्तु जब आगे का बधहेतु होगा, तब पूर्व का बधहेतु हो भी और न भी हो, क्योकि पहले गुणस्थान मे अविरति के साथ मिथ्यात्व होता है, किन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान मे अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नही रहता है। इसी प्रकार अन्य बधहेतुओ के लिए भी समझ लेना चाहिए।

कर्मबध के उक्त हेतुओ की सख्या के बारे मे तीन परम्पराएँ देखने को मिलती है—(१) कषाय और योग, (२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, (३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग। किन्तु इस प्रकार से सख्या और उसके नामो मे भेद रहने पर भी तात्त्विकदृष्टि से इन परम्पराओ मे कोई भेद नही है। प्रमाद एक प्रकार का असयम ही है। अत उसका समावेश अविरति या कषाय मे हो जाता है। इस दृष्टि से कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थो मे सिर्फ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बधहेतु कहे गये है। यदि इनके लिए और भी सूक्ष्मता से विचार करे तो मिथ्यात्व और अविरति—ये दोनो कषाय के स्वरूप से अलग नही पड़ते है, अत. कषाय और योग इन दोनो को मुख्य रूप से बध का कारण माना जाता है। फिर भी जिज्ञासु जनों को विस्तार से समझाने के लिए मिथ्यात्वादि पाँचो को बध का कारण कहा है। जो साधारण विवेकवान है, वे चार कारणो अथवा पॉच कारणो द्वारा और जो विशेष मर्मज्ञ हैं, वे दो कारणो की परम्परा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

इस प्रकार कर्म और कर्मवध के हेतुओ का कथन करके आगे की गाथा मे कर्मवध के प्रकार और कर्म के मूल एव उत्तर भेदो की सख्या वतलाते है।

पगइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगईं अडवन्नसय भेयं ॥२॥

गाथार्थ—लड्डू के दृष्टान्त से वह कर्मवध प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मूल प्रकृतिया आठ और उत्तर प्रकृतिया एकसौ अट्ठावन हैं।

विशेपार्थ—पूर्व गाथा मे कर्म का लक्षण और कर्मवध के कारणो का कथन करने के अनन्तर इस गाथा मे कर्मबध के भेद और कर्म की मूल-प्रकृतियो तथा उनकी उत्तर-प्रकृतियो की सख्या गिनाते है।

जीव द्वारा कर्मपुद्गलो के ग्रहण किये जाने पर वे कर्मरूप को प्राप्त होते है, उस समय उनमे चार अशो का निर्माण होता है। वे अश बध के प्रकार कहलाते है, उदाहरणार्थ—जैसे गाय-भैस आदि द्वारा खाई हुई घास आदि दूध-रूप मे परिणत होती है, तव उसमे मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है। वह स्वभाव अमुक समय तक इसी रूप मे वना रहे, ऐसी कालमर्यादा भी उसमे आती है। इस मधुरता मे तीव्रता-मदता आदि विशेषताएँ भी होती है तथा उस दूध का कुछ परिमाण भी होता है। इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किये गये और आत्मप्रदेशो के साथ सश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलो मे भी चार अशो का निर्माण होता है, जिनको क्रमश प्रकृतिवध, स्थितिबध, रसवध और प्रदेशबध कहते हैं।[1] उनके लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

---

१ (क) चउव्विहे वन्धे पण्णत्ते, त जहा—पगइवधे, ठिइवधे, अणुभाव वन्धे, पएसवन्धे। —समवायाग समवाय ४

(ख) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय। —त० सू०, अ० ८ सूत्र ४

(१) प्रकृति वध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलो मे भिन्न-भिन्न शक्तियो—स्वभावो का पैदा होना प्रकृति-वध कहलाता है।

(२) स्थिति-बध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कम-पुद्गलो मे अमुक समय तक अपने-अपने स्वभाव का त्याग न कर जीव के साथ रहने की कालमर्यादा का होना स्थिति-बध है।

(३) रस-बध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलो मे फल देने के तरतमभाव का होना रस-बध कहलाता है।

रस-वध को अनुभागवन्ध अथवा अनुभाववन्ध भी कहते है।

(४) प्रदेश-वन्ध—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कन्धो का सम्बन्ध होना प्रदेश-वन्ध कहलाता है।[१]

अव गाथा मे दिये हुए लड्डुओ के दृष्टान्त द्वारा प्रकृतिवन्ध आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते है।

जैसे वातनाशक पदार्थो से वने हुए लड्डुओ का स्वभाव वायु को नाश करने का, पित्तनाशक पदार्थो से बने हुए लड्डुओ का स्वभाव पित्त को शान्त करने का और कफनाशक पदार्थो से बने हुए लड्डुओ का स्वभाव कफ नष्ट करने का होता है, वैसे ही आत्मा के द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलो मे से कुछ मे आत्मा के ज्ञानगुण को घात करने की, कुछ मे आत्मा के दर्शनगुण को ढाँकने की, कुछ मे आत्मा के अनन्त सामर्थ्य को दवा देने आदि की शक्तियाँ पैदा होती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मपुद्गलो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियो के, अर्थात् शक्तियो के वन्ध को, स्वभावो के उत्पन्न होने को प्रकृतिवन्ध कहते हैं।

---

१ स्वभाव प्रकृति प्रोक्त, स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय, प्रदेशो दलसञ्चय ॥
—अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलो की सख्या को प्रदेश कहते है।

उक्त लड्डुओ मे से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की पन्द्रह दिन, कुछ की एक माह तक अपनी शक्ति, स्वभाव रूप मे रहने की कालमर्यादा होती है। इस कालमर्यादा को स्थिति कहते है। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डू अपने स्वभाव को छोड देते है अर्थात् विगड़ जाते हैं, विरस हो जाते है। इसी तरह कोई कर्मदल आत्मा के साथ सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम तक, कोई वीस कोडा-कोडी सागरोपम तक, कोई अन्त-मुहूर्त तक रहते है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मदलो मे पृथक्-पृथक् स्थितियो का यानी अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ वने रहने की काल-मर्यादाओ का वन्ध होना स्थिति-वन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं, अर्थात् आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

जैसे कुछ लड्डुओ मे मधुर रस अधिक, कुछ मे कम, कुछ मे कटुक रस अधिक, कुछ मे कम आदि, इस प्रकार मधुर, कटुक रस आदि रसो मे न्यूनाधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार कुछ कर्मदलो मे शुभ या अशुभ रस अधिक, कुछ कर्मदलो मे कम, इस तरह विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मद, मदतर, मदतम शुभ-अशुभ रसो का कर्म-पुद्गलो मे वधना यानी उत्पन्न होना रसवन्ध है।

शुभ कर्मो का रस ईख आदि के सदृश मधुर होता है, जिसके अनुभव से जीव हर्षित होता है। अशुभ कर्मो का रस नीम आदि के रस के सदृश कड़ुवा होता है, जिसके अनुभव से जीव घवराता है, दु खी होता है।

कुछ लड्डुओ का परिमाण दो तोला, कुछ का छटाक और कुछ का पाव आदि होता है। इसी प्रकार किन्ही कर्मस्कन्धो मे परमाणुओ की सख्या अधिक और किन्ही मे कम होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न

के साथ प्रत्येक के अन्त मे कर्म शब्द जोड देने से उस कर्म का पूरा नाम हो जाता है, जैसे—ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म इत्यादि।

असख्य कर्मप्रभावो को उक्त आठ भागो मे वर्गीकृत करने का कारण यह है कि जिससे जिज्ञासुजन सरलता से कर्मसिद्धान्त को समझ सके। ज्ञानावरणकर्म आदि आठ कर्मों के लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

(१) जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करे, उसे **ज्ञानावरणकर्म** कहते हैं।

(२) जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, उसे **दर्शनावरणकर्म** कहते है।

(३) जिस कर्म के द्वारा जीव को सासारिक इन्द्रियजन्य सुख-दु ख का अनुभव हो, वह **वेदनीयकर्म** कहलाता है।

(४) जो कर्म जीव को स्वपर-विवेक मे तथा स्वरूपरमण मे वाधा पहुँचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात करता है, उसे **मोहनीयकर्म** कहते हैं।

(५) जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे **आयुकर्म** कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव आदि कहलाये, उसे **नामकर्म** कहते हैं।

(७) जो कर्म जीव को उच्च, नीच कुल मे जन्मावे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव मे पूज्यता, अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च, नीच कहलाये[1] उसे **गोत्रकर्म** कहते है।

---

१ यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् गोत्र। —प्रज्ञापना २३।१। २८८ टीका

(८) जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तियो का घात करता है या दानादि मे अन्तरायरूप हो, उसे अन्तरायकर्म कहते है।

इन आठो कर्मों के भी घाति और अघाति रूप मे दो भेद है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय—यह चार घाति कर्म हैं। 'घाति' यह सार्थक सज्ञा है। आत्मा के अनुजीवी गुणो का, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने के कारण ही ये कर्म 'घाति' कहलाते है। शेप अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार कर्म 'अघाति' कहलाते हैं। यद्यपि इनमे आत्मा के अनुजीवी गुणो—वास्तविक आत्म-स्वरूप का घात करने की शक्ति नही है, तथापि इनमे ऐसी शक्ति पाई जाती है, जो आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करती है, जिससे आत्मा को शरीर की कैद मे रहना पडता है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों मे से क्रमश ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के एकसौ तीन, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद होते है। ये अवान्तर भेद उन-उन कर्मो की उत्तर-प्रकृतियाँ कहलाते है। किन्ही किन्ही ग्रथो मे उक्त कर्मो के कुल मिलाकर सत्तानवै या एकसौ अडतालीस भेद भी वतलाये है। इस तरह की भिन्नता के कारणो को यथाप्रसग वतलाया जाएगा। यहाँ तो जिज्ञासुजनो को सरलता से समझाने के लिए ही ज्ञानावरणादि कर्मो की उत्तरप्रकृतियो की सख्या एकसौ अट्ठावन वताई गई है।

अव आगे की गाथा मे ज्ञानावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियो के नाम वतलाने के लिए पहले ज्ञान के पॉच भेदो का वर्णन करते है।

परमाणु सख्याओयुक्त कर्मदलो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदेशवन्ध कहलाता है।

जीव सख्यात, असख्यात या अनन्त परमाणुओ से बने कर्मस्कन्धो को ग्रहण नही करता, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओ से बने हुए कर्म-स्कन्धो को ग्रहण करता है।

उक्त चार प्रकार के कर्मवन्धो मे से प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध का वन्ध योग से एव स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध का वन्ध कषाय से होता है।[1]

कर्म के भेदो का कथन करने के अनन्तर कर्मो की मूल एव उत्तर-प्रकृतियो की परिभाषा और सख्या वताते है।

मूलप्रकृति—कर्मो के मुख्य भेदो को कहते हैं।

उत्तरप्रकृति—कर्मो के मुख्य भेदो के अवान्तर भेदो को उत्तरप्रकृति कहते है।

कर्म की मूलप्रकृतियो के आठ और उत्तरप्रकृतियो के एकसौ अट्ठावन भेद होते हैं। उनके नाम और सख्या आदि का निरूपण आगे की गाथा मे किया जायगा।

आगे की गाथा मे मूलप्रकृतियो के भेदो के नाम और उनकी उत्तरप्रकृतियो की सख्या वतलाते है।

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउ नामगोयाणि।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥

---

१. जोगा पयडिपएस ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ।

—पचम कर्मग्रन्थ, गा० ९६

गाथार्थ—कर्मशास्त्र मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय ये कर्म की मूलप्रकृतियो के आठ नाम है और इनके क्रमश पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, एकसौ तीन, दो और पाँच भेद है।

विशेषार्थ—जीव द्वारा ग्रहण की गई कर्मपुद्गलराशि मे अध्यवसायशक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभावो का निर्माण होता है। यद्यपि ये स्वभाव अदृश्य है, फिर भी उनके परिणमन की अनुभूति, ज्ञान उनके कार्यों के प्रभाव को देखकर करते है। एक या अनेक जीवो पर होने वाले कर्म के असख्य प्रभाव अनुभव मे आते है और इन प्रभावो के उत्पादक स्वभाव भी असख्यात है। ऐसा होने पर भी सक्षेप मे वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागो मे विभाजित कर दिया है, जिनके नाम क्रमशः नीचे दिये जा रहे है—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[1] इन नामो

---

१ (क) नाणस्सावरणिज्ज दसणावरण तहा।
वेयणिज्ज तहा मोह आउकम्म तहेव य॥
नामकम्म च गोय च अन्तराय तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ॥

—उत्तराध्ययन ३३।२-३

(ख) अट्ठ कम्म पगडीओ पण्णत्ताओ त जहा—णाणावरणिज्ज, दसणावरणिज्ज, वेयणिज्ज, मोहणिज्ज, आउय, नाम, गोय अन्तराइय।

—प्रज्ञापना, पद २१, उ० १, सू० २२८

(ग) आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सू० ५

मइ-सुय-ओही-मण-केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाण ।
वंजणवग्गह चउहा मणनयणविणिंदिय चउक्का ।।४।।

गाथार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये पॉच ज्ञान हैं। उनमे से मतिज्ञान का अवान्तरभेद व्यजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियो से होने के कारण चार प्रकार का है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मो मे पहला कर्म ज्ञानावरण है। उसकी उत्तर-प्रकृतियो के नाम समझाने के लिए पहले ज्ञान के भेद वतलाते है, क्योकि ज्ञानो के नाम जान लेने से उनके आवरणो के नाम भी सरलता से समझ मे आ जायेगे। ज्ञान के मुख्य पॉच भेद हैं—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन-पर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान।[1]

मतिज्ञान—मन और इन्द्रियो की सहायता द्वारा होने वाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को अभिनिवोधिक ज्ञान भी कहते है।

श्रुतज्ञान—शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमे हो, उसे श्रुतज्ञान कहते है, जैसे—

---

१ (क) पचविहे णाणे पण्णत्ते, त जहा—अभिणिवोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

—स्थानागसूत्र, स्थान ५, उ० ३, सू० ४६३

(ख) मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० ९

घट शब्द को सुनने अथवा आँख से देखने पर उसके बनाने वाले, रंग-रूप आदि तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयो का विचार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है। शास्त्रो के वाँचने तथा सुनने से जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह भी श्रुतज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर

यद्यपि मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मे मन और इन्द्रियो की सहायता अपेक्षित है, फिर भी इन दोनो मे इतना अन्तर है कि मतिज्ञान विद्यमान वस्तु मे प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, वर्तमान और भावी इन त्रैकालिक विषयो मे प्रवृत्त होता है। विषयकृत भेद के सिवाय दोनो मे यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान मे शब्द-उल्लेख नही होता है और श्रुतज्ञान मे होता है। इसका आशय यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख से रहित है, वह मतिज्ञान है।

मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, फिर भी श्रुतज्ञान मे इन्द्रियो की अपेक्षा मन की मुख्यता है। इन्द्रियाँ तो मात्र मूर्त को ही ग्रहण करती हैं, किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनो को ग्रहण करता है। वास्तव मे देखा जाय तो मनन-चिन्तन मन ही करता है, यथा—मननान्मन । इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय का मनन भी मन ही करता है और कभी वह स्वतन्त्र रूप से भी मनन करता है। कहा भी है—श्रुतमनिन्द्रियस्य (तत्त्वार्थसूत्र अ० २, सू० २२), अर्थात् श्रुतज्ञान मुख्यतया मन का विषय है।

अवधिज्ञान—मन और इन्द्रियो की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी, अर्थात् मूर्तद्रव्य का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अथवा 'अव' शब्द अध (नीचे) अर्थ का वाचक है। जो अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अरूपी को नही। यही उसकी मर्यादा है। अथवा वाह्य अर्थ को साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।[1]

मन पर्यायज्ञान—इन्द्रियो और मन की अपेक्षा न रखते हुए मर्यादा लिए हुए सज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जानना मन.पर्यायज्ञान कहलाता है। सज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामो को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मन पर्याय ज्ञान कहते हैं। जव मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है, तव चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य मे प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियाँ धारण करता है। वे ही आकृतियॉ मन की पर्याय है। उन्हे मन पर्यायज्ञान प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है।

मन पर्यायज्ञानी किसी वाह्य वस्तु को, क्षेत्र को, काल को तथा द्रव्यगत पर्यायो को नही जानता, किन्तु जव वे किसी के चिन्तन मे आ जाते है, तव मनोगत भावो को जानता है। जैसे बन्द कमरे मे वैठा हुआ व्यक्ति वाहर होने वाले विशेष समारोह तथा उसमे भाग लेने वाले

---

१ अव शब्दोऽव शब्दार्थ अव-अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधि अथवा अवधि मर्यादा रूपीष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधि, अवधिश्चासौ ज्ञान चावधिज्ञानम्।

—नन्दीसूत्र टीका

मनुष्योव व स्तुओ को टेलीविजन के द्वारा प्रत्यक्ष करता है, अन्यथा नही, वैसे ही मन पर्यायज्ञानी चक्षु से परोक्ष जो भी जीव, अजीव हैं उनका प्रत्यक्ष तब कर सकते हैं, जबकि वे किसी सज्ञी के मन मे झलक रहे हो, अन्यथा नही। सैकडो योजन दूर रहे हुए किसी ग्राम, नगर आदि को मन पर्यायज्ञानी नही देख सकते। यदि वह ग्राम आदि किसी के मन मे स्मृति के रूप मे विद्यमान हैं, तब उनका साक्षात्कार कर सकते है। इसी प्रकार अन्य-अन्य उदाहरण समझने चाहिए।

अवधिज्ञान का विषय भी रूपी है, और मन पर्यायज्ञान का विषय भी रूपी है, क्योकि मन पौद्गलिक होने से वह रूपी है, फिर अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायो को क्यो नही जान सकता ? तो इसका समाधान यह है कि अवधिज्ञानी मन को तथा उसकी पर्यायो को भी प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु उसमे झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नही कर सकता है जैसे कि सैनिक दूर रहे अपने साथियो को दिन मे झण्डियो की विशेष प्रक्रिया द्वारा और रात्रि मे प्रकाश की प्रक्रिया द्वारा अपने भावो को समझाते है और स्वय समझते हैं। किन्तु अप्रशिक्षित व्यक्ति झण्डियाँ, प्रकाश आदि को देख सकता है और उनकी प्रक्रियाओ को भी देख सकता है किन्तु उनके द्वारा व्यक्त मनोभावो को नही समझ सकता है। इसी प्रकार अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायो को प्रत्यक्ष तो कर सकता है, किन्तु मनोगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नही कर सकता है, जबकि मन पर्यायज्ञानी कर सकता है। यह उसका विशेप विषय है। यदि यह उसका विशेष विषय न होता तो मन पर्यायज्ञान को अलग से मानना ही व्यर्थ है।

केवलज्ञान—विश्व मे विद्यमान सम्पूर्ण द्रव्यो को, उनकी त्रिकाल—भूत, वर्तमान और भविष्य मे होने वाली समस्त पर्यायो सहित युगपत्

(एक साथ) जानना केवलज्ञान कहलाता है, अर्थात् जो ज्ञान किसी की सहायता के विना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को विषय करता है, यानी इसके लिए मन और इन्द्रिय तथा देह एव वैज्ञानिक यत्रो की आवश्यकता नही रहती। वह विना किसी की सहायता के रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेयो को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है। अत. उसे केवलज्ञान कहते हैं।

ये मतिज्ञान आदि पाँचो ज्ञान प्रमाण हैं और इनमे से आदि के दो ज्ञान— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—परोक्षप्रमाण कहलाते हैं। क्योकि इन दोनो ज्ञानो के होने मे इन्द्रियो और मन के सहयोग की अपेक्षा होती है और अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान—ये तीनो ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हैं। ये तीनो ज्ञान मन और इन्द्रियो की सहायता के विना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के वल से उत्पन्न होते हैं।[1]

यद्यपि अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान आत्मा की शक्ति के द्वारा मूर्त पदार्थों का ज्ञान करते हैं, किन्तु ये चेतना शक्ति के अपूर्ण विकास के कारण उनकी समग्र पर्यायो भावो को जानने मे असमर्थ हैं। इसलिए इन दोनो ज्ञानो को विकल-प्रत्यक्ष कहते है, जवकि केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायो सहित युगपत् जानता

---

१ (क) दुविहे नाणे पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव। पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—केवलनाणे णोकेवलणाणे चेव। णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—ओहिणाणे चेव णपज्जवणाणे चेव। परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—अभिणिवोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।

—स्थानागसूत्र, स्थान २, उ०१, सू० ७१

(ख) आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ १, सू० ११, १२

है। अत केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहते है। केवलज्ञान मे अपूर्णताजन्य कोई भेद-प्रभेद नही होता है, क्योकि कोई भी पदार्थ और तज्जन्य पर्याय ऐसी नही है जो केवलज्ञान के द्वारा न जानी जाय।

इन पाँच ज्ञानो मे से आदि के दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान निश्चयनय की अपेक्षा परोक्ष है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा प्रत्यक्षज्ञान भी कहे जाते है। इसलिए इन दोनो ज्ञानो को व्यावहारिक प्रत्यक्ष और शेष रहे अवधिज्ञान आदि तीनो ज्ञानो को पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते है।

मतिज्ञानादि पाच ज्ञानो मे से आदि के चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्यायज्ञान अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान अपने आवरण कर्म को पूर्ण रूप से क्षय कर देने से क्षायिकज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के भेद

केवलज्ञान का अन्य कोई अवान्तर भेद नही होता है, किन्तु मतिज्ञानादि शेष रहे चारो ज्ञानो के क्षायोपशमिक होने से अवान्तर भेद होते हैं, जिनका यथाप्रसग कथन किया जायगा। सर्वप्रथम यहाँ मतिज्ञान के अवान्तर भेदो की सख्या और नामो को बतलाते है।

सक्षेप मे मतिज्ञान के चार भेद है और क्रमश अट्ठाईस, तीनसौ छत्तीस अथवा तीनसौ चालीस भेद भी होते है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।[1]

१ (क) से किं त सुअनिस्सिअ? चउव्विह पण्णत्त, त जहा—उग्गह, ईहा, अवाओ, धारणा।
—नन्दीसूत्र २६

इनमे से ईहा, अवाय और धारणा के प्रभेद—और दूसरे भेद-नहीं होते है, किन्तु अवग्रह के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(१) व्यजनावग्रह और (२) अर्थावग्रह ।[1]

व्यजनावग्रह— नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है और विषय तथा इन्द्रियों का सयोग पुष्ट हो जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है, वह अर्थावग्रह कहलाता है, किन्तु वह ज्ञान भी अव्यक्त रूप ही होता है और इस अव्यक्त ज्ञान रूप अर्थावग्रह से पहले होने वाले अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान को व्यजनावग्रह कहते है ।

तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है, तब 'यह कुछ है' ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं और उससे भी पहले होने वाला अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यजनावग्रह कहलाता है। व्यजनावग्रह पदार्थ की सत्ता को ग्रहण करने पर होता है, अर्थात् पहले सत्ता की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यजनावग्रह होता है ।

(ख) अवग्रहेहावायधारणा ।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० १५

(ग) चउव्विहा मई पण्णत्ता त जहा—उग्गहमई ईहामई अवायमई धारणामई । —स्थानाग ४।४।३६४

१ (क) उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—अत्थुग्गहे य वजणुग्गहे य ।

—नन्दीसूत्र २७

(ख) सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, त जहा—अत्थोग्गहे चेव वजणोग्गहे चेव ।

—स्थानांग, स्थान २, उ २, सू० ७१

यह व्यजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियो से होता है।[1] क्योकि व्यजनावग्रह मे इन्द्रियो का पदार्थ के साथ सयोग-सम्बन्ध होना जरूरी है, लेकिन मन और चक्षुरिन्द्रिय ये दोनो पदार्थो से अलग—दूर रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं । इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी कहलाते है।

अप्राप्यकारी का अर्थ यह है कि पदार्थो के साथ विना सयोग किये ही पदार्थ का ज्ञान करना। जबकि स्पर्शनादि चार इन्द्रियाँ पदार्थ से सम्बन्ध करके ज्ञान कराने वाली होने से प्राप्यकारी कही जाती है। प्राप्यकारी का अर्थ है पदार्थ के साथ सवन्ध, सयोग और स्पर्श होने पर ज्ञान होना। तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है, उन्ही से व्यजनावग्रह होता है और अप्राप्यकारी इन्द्रियो से नही होता है। जैसे आँख मे डाला हुआ अजन स्वय आँख से नही दिखता और मन शरीर के अन्दर रहकर ही वाह्य पदार्थो को ग्रहण करता है। इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय—ये दोनो प्राप्यकारी नही हैं।

इसी कारण व्यजनावग्रह के (१) स्पर्शनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय-व्यजनावग्रह और (४) श्रोत्रेन्द्रिय-व्यजनावग्रह—ये चार भेद होते है।[2]

---

१ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सु० १६

२ वजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते त जहा—सोइन्दियवजणुग्गहे, घाणिदियवजणुग्गहे, जिब्भिदियवजणुग्गहे, फासिदियवजणुग्गहे से त वजणुग्गहे।

—नन्दीसूत्र २८

स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, उसे स्पर्शनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह कहते है। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत्र—इन तीन इन्द्रियो मे होने वाले व्यजनावग्रहो को भी समझ लेना चाहिए।

व्यजनावग्रह का जघन्य काल आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण होता है और उत्कृष्ट श्वासोच्छ्वास-पृथक्त्व, अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास से लेकर नौ श्वासोच्छ्वास जितना है।[1]

मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेदो के नाम गिनाने के अनन्तर अट्ठाईस भेदो मे से व्यजनावग्रह के चार भेद बतलाने के बाद शेष रहे चौबीस भेदो आदि के नाम तथा श्रुतज्ञान के भेदो की सख्या आगे की गाथा मे बतलाते हैं—

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

गाथार्थ—अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये प्रत्येक करण अर्थात् पाँच इन्द्रियो और मन से होते हैं, इसलिए प्रत्येक के छह-छह भेद होने से चौबीस भेद हो जाते हैं और पहले बताये गये व्यजनावग्रह के चार भेदो को मिलाने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं। श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद होते हैं।

विशेषार्थ—मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदो मे स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियजन्य व्यजनावग्रह के चार भेद पूर्व की गाथा मे कहे गये

---

१ 'वजणोवग्गह कालो आवलियाऽसखभाग तुल्लो उ।
थोवा उक्कोसा पुण आणपाणू पुहुत्त ति ॥' —नन्दी सूत्र टीका

हैं। बाकी रहे चौबीस भेदो को बतलाने से पहले गाथा मे बताये गये अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के लक्षण कहते है।

अर्थावग्रह—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं, जैसे—'यह कुछ है'। अर्थावग्रह मे भी पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का ज्ञान नही होता है। किन्तु व्यजनावग्रह की अपेक्षा अर्थावग्रह ज्ञान मे कुछ विशेषता होती है। अर्थावग्रह का काल एक समय प्रमाण है।

ईहा—अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय मे धर्म-विषयक विचारणा को ईहा कहते है, अर्थात् अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा होती है, उसे ईहा कहा जाता है। जैसे यह रस्सी का स्पर्श है या सर्प का, इस प्रकार का सशय उत्पन्न होने पर दोनो के गुण-धर्मो के सम्बन्ध मे विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए। क्योकि यदि यह सर्प होता तो आघात होने पर फुफकार किये बिना न रहता इत्यादि सभावना, विचारणा ईहा कहलाती है। ईहा का काल अन्तर्मुहूर्त है।

अवाय—ईहा के द्वारा ग्रहण किये गए पदार्थ के विषय मे कुछ अधिक जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते है, जैसे—पहले जो स्पर्श हुआ था, वह रस्सी का ही स्पर्श था, सर्प का नही। इस प्रकार जो निश्चय होता है, वह अवाय है। अवाय का समय अन्तर्मुहूर्त है।

धारणा—अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ का कालान्तर मे विस्मरण न हो, ऐसा जो दृढ ज्ञान होता है, उसे धारणा कहते हैं, अर्थात् अवाय द्वारा जाने गए पदार्थ का कालान्तर मे भी स्मरण हो, इस प्रकार के सस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहा जाता है।

अवाय रूप निश्चय कुछ काल तक विद्यमान रहता है, फिर विपयान्तर मे मन के चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है, किन्तु ऐसा सस्कार डाल जाता है कि आगे कभी कोई योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो जाता है। यह निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य सस्कार और सस्कारजन्य स्मरण, यह सब मति-व्यापार धारणा है। धारणा का काल सख्यात तथा असख्यात वर्षो का है।[1]

मतिज्ञान के ही रूप होने से अर्थावग्रह आदि चारो पाँच इन्द्रियो और मन के द्वारा पदार्थ का ज्ञान करते है। इसलिए उनका पॉच इन्द्रियो और मन के साथ गुणा करने से छह-छह भेद हो जाते है, जैसे—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और मन इनका अर्थावग्रह के साथ सयोग करने से अर्थावग्रह के निम्न-लिखित छह भेद हो जाते है—

(१) स्पर्शनेन्द्रिय-अर्थावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय--अर्थावग्रह, (४) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, (५) श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह और (६) मन-अर्थावग्रह। इसी प्रकार पॉच इन्द्रियो के नामो और मन के साथ क्रमश. ईहा, अवाय और धारणा को जोडने से उन-उनके भी छह-छह भेद कर लेना चाहिए।

अर्थावग्रह से लेकर धारणा तक इन चारो के छह-छह भेदो को मिलाने से कुल चौबीस भेद होते है[2] तथा इन भेदो मे व्यजनावग्रह

---

१ उग्गहे इक्कसमइए, अन्तोमुहुत्तिया ईहा, अन्तोमुहुत्तिए अवाए, धारणा सखेज्ज वा काल असखेज्ज वा काल। —नन्दीसूत्र ३४

२ नन्दीसूत्र २९, ३१, ३२, ३३।

के चार भेदो को और मिलाने से मतिज्ञान के कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। ये भेद पृष्ठ २८ मे दी गई तालिका से स्पष्ट ज्ञात हो जाते है।

इस प्रकार मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद बतलाने के अनन्तर ३३६ और ३४० भेदो को समझाते है।

ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है। क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान कभी एक प्रकार के पदार्थों को तो कभी अनेक प्रकार के पदार्थों को जानता है। कभी पदार्थ का शीघ्र ज्ञान हो जाता है तो कभी विलम्ब से होता है, इत्यादि। अत पाँच इन्द्रियो और मन-इन छह साधनो से होने वाले मतिज्ञान के अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के रूप से जो कुल चौवीस भेद कहे है वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से वारह-बारह प्रकार के होते हैं। उन वारह प्रकारो के नाम इस प्रकार हैं—

(१) वहु,	(५) क्षिप्र,	(९) असदिग्ध
(२) अल्प,	(६) अक्षिप्र, (चर),	(१०) सदिग्ध,
(३) वहुविध,	(७) अनिश्रित,	(११) ध्रुव
(४) एकविध,	(८) निश्रित,	(१२) अध्रुव ।[1]

---

१ (क) छव्विहा उग्गहमती पण्णत्ता, त जहा-खिप्पमोगिण्हति वहुमोगिण्हति वहुविधमोगिण्हति धुवमोगिण्हति अणिस्सियमोगिण्हइ असदिद्धमोगिण्हइ। छव्विहा ईहामती पण्णत्ता, त जहा—खिप्पमीहति वहुमीहति जाव असदिद्धमीहति। छव्विहा अवायमती पण्त्ता त जहा—खिप्पमवेति जाव असदिद्ध मवेति। छव्विवा धारणा पण्णत्ता त जहा—वहु धारेइ वहुविहधारेइ, पोराण धारेइ, दुद्धर धारेइ अणिस्सिय धारेइ असदिद्ध धारेइ। —स्थानागसूत्र, स्थान ६, सू० ५१०

स्पर्शन इ०	रसन इ०	घ्राण इ०	श्रोत्र इ०	चक्षु इ०	मन	सर्वभेद २८
१ व्यजनावग्रह	१ व्यजनावग्रह	१ व्यजनावग्रह	१ व्यजनावग्रह	×	×	४
२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	१ अर्थावग्रह	१ अर्थावग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	२ ईहा	२ ईहा	६
४ अवाय	४ अवाय	४ अवाय	४ अवाय	३ अवाय	३ अवाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	४ धारणा	४ धारणा	६

वहु का आशय अनेक और अल्प का आशय एक है। जैसे दो या दो से अधिक पुस्तको को जाननें वाले अवग्रह, ईहा, आदि चारो क्रमभावी मतिज्ञान वहुग्राही अवग्रह, वहुग्राहिणी ईहा, वहुग्राही अवाय और वहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं और एक पुस्तक को जानने वाले अल्पग्राही अवग्रह आदि धारणा पर्यन्त समझ लेने चाहिए।

वहुविध का आशय अनेक प्रकार से और एकविध का अर्थ एक प्रकार से है। जैसे—आकार-प्रकार, रग-रूप आदि विविधता रखने वाली पुस्तको के जानने वाले अवग्रह आदि क्रम से वहुविधग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और आकार-प्रकार, रग-रूप आदि तथा मोटाई आदि मे एक ही प्रकार की पुस्तको के जानने वाले ये ज्ञान अल्पविधग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

वहु और अल्प का तात्पर्य वस्तु की सख्या (गिनती) से और वहुविध तथा एकविध का तात्पर्य प्रकार, किस्म या जाति से है। यही दोनो मे अन्तर है।

क्षिप्र का अर्थ शीघ्र और अक्षिप्र का अर्थ विलम्व—देरी है। शीघ्र जान्ने वाले अवग्रह आदि क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि तथा विलम्ब से जानने वाले अक्षिप्रगाही अवग्रह आदि कहलाते है।

अनिश्रित का अर्थ हेतु—चिह्न द्वारा असिद्ध और निश्रित का आशय हेतु द्वारा सिद्ध वस्तु से है। जैसे पूर्व मे अनुभूत शीतल, कोमल

तथा—ज वहु वहुविह खिप्पा अणिस्सिय निच्छिय धुवेयरविभिन्ना
पुणरोग्गहादओ तो त छतीसत्तिसय भेद।

—इति भासयारेण (इति भाष्यकारेण)

(ख) वहुवहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणा सेतराणाम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० १६

और स्निग्ध स्पर्श रूप हेतु से जूही के फूलो को जानने वाले अवग्रह आदि चारो ज्ञान क्रमश निश्रितग्राही अवग्रह आदि तथा उक्त हेतु के विना ही उन फूलो को जानने वाले अनिश्रितग्राही अवग्रह आदि कहलाते है।

ऊपर जो निश्रित और अनिश्रित शब्द का अर्थ वतलाया है, वह नन्दीसूत्र की टीका मे भी है। इसके सिवाय उक्त सूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने एक दूसरा भी अर्थ वतलाया है—पर-धर्मो से मिश्रित-ग्रहण निश्रितावग्रह आदि और पर धर्मो से अनिश्रितग्रहण अनिश्रितावग्रह आदि (आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १८३)।

असदिग्ध का अर्थ निश्चित और सदिग्ध का अर्थ अनिश्चित है। जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नही, इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले अवग्रह आदि चारो ज्ञान निश्चित (असदिग्ध) ग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योकि दोनो मे शीतलता होती है, इस प्रकार विशेष की अनुपलब्धि के साथ होने वाले सदेहयुक्त ज्ञान अनिश्चित (सदिग्ध) ग्राही-अवग्रह आदि कहलाते है।

जैसा कि पहले ज्ञान हुआ था, वैसा ही पीछे भी होता है, उसमे कोई अन्तर नही आता, उसे ध्रुवग्रहण और पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान मे न्यूनाधिक रूप से अन्तर आ जाना अध्रुवाग्रहण कहलाता है, जैसे कोई मनुष्य साधन-सामग्री आदि समान होने पर उस विषय को अवश्य जान लेता है और दूसरा उसे कभी जान पडता है और कभी नही। सामग्री होने पर विषय को अवश्य जानने वाले अवग्रह आदि चारो ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते है और सामग्री होने पर

भी क्षयोपशम की मदता के कारण कभी ग्रहण करने वाले और कभी न करने वाले उक्त चारो ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते है।

उक्त वहु आदि वारह भेदो मे से वहु, अल्प, वहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय की विविधता पर एव क्षिप्र आदि शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर आधारित है।

वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असदिग्ध और ध्रुव इनमे विशिष्ट क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता, अभ्यस्तता ये असाधारण कारण है और अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, सदिग्ध और अध्रुव— इनसे होने वाले ज्ञान मे क्षयोपशम की मदता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्ता ये अन्तरग असाधारण कारण है।

पाँच इन्द्रियो और मन—इनके माध्यम से मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इन छहो को अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के साथ जोडने से चौवीस भेद वन जाते है, जिनका सकेत पूर्व मे किया है। चक्षु और मन को छोडकर चार इन्द्रियो से व्यजनावग्रह भी होता है। अत अर्थावग्रह आदि चौवीस भेदो मे व्यजनावग्रह के चार भेदो की सख्या जोडने से अट्ठाईस हो जाते है। इन अट्ठाईस को बहु आदि वारह भेदो से गुणा करने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद हो जाते हैं।

प्रकारान्तर से ३३६ भेद इस तरह से भी समझे जा सकते हैं— अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारो मे से प्रत्येक के पाँच इन्द्रियो और मन से होने के कारण चौवीस भेद वनते हैं और इन चौवीस का वहु आदि वारह के साथ गुणा करने से २८८ भेद हुए तथा व्यजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इन दोनो के सिवाय शेप स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियो मे होने से और इन चार प्रकार के व्यजनावग्रह का वहु आदि वारह के साथ गुणा करने से अडतालीस भेद हुए।

इस प्रकार अर्थावग्रह आदि के २८८ और व्यंजनावग्रह के अडतालीस भेदो को मिलाने से कुल ३३६ भेद मतिज्ञान के हो जाते हैं।

व्यजनावग्रह के अडतालीस भेद होने का कारण यह है—

व्यजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन के सिवाय शेष चार इन्द्रियो—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र से होता है। तथा ईहा, अवाय एव धारणा रूप क्रमवर्ती ज्ञान नही होते हैं। इसलिए स्पर्शनादि चार इन्द्रियो से जन्य व्यजनावग्रहो का बहु आदि बारह के साथ गुणा करने पर सिर्फ अडतालीस भेद होते है। मतिज्ञान के पूर्वोक्त ३३६ भेदो मे अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के-(१) औत्पात्तिकी बुद्धि, (२) वैनयिकी बुद्धि, (३) कर्मजा बुद्धि और (४) परिणामिकी बुद्धि[1]—इन चार भेदो को मिलाने से मतिज्ञान के कुल ३४० भेद हो जाते है।

उक्त चार बुद्धियो का स्वरूप निम्न प्रकार से समझना चाहिए—

औत्पत्तिकी बुद्धि[2]—जिस बुद्धि के द्वारा पहले विना-सुने, विना जाने हुए पदार्थों के विशुद्ध अर्थ, अभिप्राय को तत्काल ग्रहण कर लिया जाता है, उसे औत्पात्तिकी बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि किसी प्रसग पर कार्यसिद्धि करने मे एकाएक प्रकट होती है।

---

१ (क) असुयनिस्सिय चउव्विह पण्णत्त त जहा—
उप्पत्तिया वेणइआ कम्मिया परिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पचमा नोवलब्भई॥

—नन्दीसूत्र २६

(ख) चउव्विहा बुद्धी पण्णत्ता त जहा—उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, परिणामिया।

—स्थानांग ४।४। ३६४

२ पुव्वमदिट्ठ मस्सुय मवेइ य तक्खपविशुद्धगहियत्था।
अव्वाहय फल जोगा बुद्धी उप्पत्तिया नाम।

—नन्दीसूत्र, गाथा ६६

वैनयिकी बुद्धि[1]—गुरुजनो आदि की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि को कहते है। यह बुद्धि कार्यभार वहन करने मे समर्थ होती है और इहलोक व परलोक मे फल देने वाली होती है।

कर्मजा बुद्धि[2]—उपयोग पूर्वक चिन्तन, मनन और अभ्यास करते-करते प्राप्त होने वाली बुद्धि को कहते है।

परिणामकी बुद्धि[3]—दीर्घायु के कारण बहुत काल तक ससार के अनुभवो से प्राप्त होने वाली बुद्धि को कहते हैं। यह बुद्धि अनुमान, हेतु, दृष्टान्त आदि से कार्य को सिद्ध करने वाली और लोकहित करने वाली होती है।

इस प्रकार मतिज्ञान का विवेचन पूर्ण हुआ। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—दोनो सहवर्ती है, तथापि पहले मतिज्ञान और उसके अनन्तर श्रुतज्ञान होता है तथा मतिज्ञान अपने स्वरूप का कथन स्वय नही कर सकता है और श्रुतज्ञान के अक्षर रूप होने से मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया जाता है।[4]

---

१ भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभओलोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥

—नन्दीसूत्र, गाथा ७६

२ उवओगदिट्ठसारा कम्मपसगपरिघोलण विसाला।
साहुक्कारफलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ —नन्दीसूत्र १ गाथा, ७३

३ अणुमाण-हेउ-दिट्ठ त-साहिया वयविवाग परिणामा।
हियनिस्सेयसफलवई बुद्धी परिणामिया नाम ॥ —नन्दीसूत्र गाथा, ७८

४. मईपुव्वं जेण सुअ न मई सुयपुव्विया। —नन्दीसूत्र, २४

अव आगे की दो गाथाओ मे श्रुतज्ञान के चौदह और वीस भेदो का कथन करते हैं।

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं स त्तवि एए सपडिवक्खा ॥६॥
पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य स-समासा ॥७॥

गाथार्थ—अक्षर, सज्ञी, सम्यक्, सादि, सपर्यवसित, गमिक और अगप्रविष्ट तथा इन सात के साथ इनके प्रतिपक्षी अर्थवाले सात नामो को जोडने से श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते है। पर्याय, अक्षर, पद, सघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु एव पूर्व ये दस तथा इन दसो मे से प्रत्येक के साथ समास शब्द जोड़ देने से श्रुतज्ञान से वीस भेद होते हैं।६॥७॥

विशेषार्थ—मतिज्ञान के अनन्तर क्रमप्राप्त श्रुतज्ञान का विवेचन करते हैं। गाथा ६ मे श्रुतज्ञान के चौदह भेदो एव गाथा ७ मे वीस भेदो के नाम सक्षेप मे गिनाये हैं। उनमे से पहले चौदह भेदो का और वाद के वीस भेदो का कथन करते है।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद—श्रुतज्ञान के चौदह भेदो का कथन करने के लिए यद्यपि गाथा मे सिर्फ सात नामो का उल्लेख है और शेष सात नामो को समझने के लिए कहा गया है कि उक्त नामो से प्रतिपक्षी अर्थ रखने वाले सात नामो को और जोड लेना चाहिए। अतएव अक्षर आदि सात नामो के साथ उनके प्रतिपक्षी सात नाम जोडने से श्रुतज्ञान के निम्नलिखित चौदह नाम हो जाते हैं—

(१) अक्षरश्रुत, (५) सम्यक्श्रुत, (१०) अपर्यवसितश्रुत,
(२) अनक्षरश्रुत, (६) मिथ्याश्रुत, (११) गमिकश्रुत,
(३) सज्ञीश्रुत, (७) सादिश्रुत, (१२) अगमिकश्रुत,
(४) असज्ञीश्रुत, (८) अनादिश्रुत, (१३) अगप्रविष्टश्रुत,
(९) सपर्यवसितश्रुत, (१४) अगवाह्यश्रुत ।[1]

श्रुतज्ञान के उक्त चौदह भेदो मे से यद्यपि अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदो मे शेप वारह भेदो का अन्तर्भाव हो जाता है; फिर भी शेष वारह भेदो का कथन इसलिए किया गया है कि सभी प्रकार के जिज्ञासु जन सामान्य और विशेष की अपेक्षा सरलता से समझ सके ।

जिज्ञासुओ के दो प्रकार है—(१) व्युत्पन्नमति (प्रखरबुद्धि वाले) और (२) अव्युत्पन्नमति (मन्दवुद्धि वाले)। इनमे से प्रखरवुद्धि वाले तो अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदो के द्वारा ही श्रुतज्ञान के वारे मे समझ लेते हैं। लेकिन मदवुद्धि वाले अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदो के द्वारा शेप भेदो का वर्णन करने व समझने मे समर्थ नही हैं। अत उन्हे भी सरलता से ज्ञात कराने की दृष्टि से शेष वारह भेदो का भी उल्लेख किया गया है।

श्रुतज्ञान के उक्त चौदह भेदो की व्याख्या इस प्रकार है—

अक्षरश्रुत—'क्षर सचलने' धातु से अक्षर शब्द वनता है , जैसे—'न क्षरति न चलति इत्यक्षरम्', अर्थात् ज्ञान का नाम अक्षर है। ज्ञान

१ सुयनाणपरोक्ख चोद्दसविह पण्णत्त , त जहा—अक्खरसुय, अणक्खरसुय, सण्णिसुय, असण्णिसुय, सम्मसुय, मिच्छासुय, साइय, अणाइय, सपज्जवसिय, अपज्जवसिय, गमिय, अगमिय, अगपविट्ठ, अणगपविट्ठ ।

—नन्दीसूत्र ३८

जीव का स्वभाव है और कोई द्रव्य अपने स्वभाव से विचलित नही होता है। जीव भी एक द्रव्य है। ज्ञान उसका स्वभाव तथा गुण होने से वह जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य मे नही पाया जाता है। ज्ञान जीव—आत्मा से कभी नहीं हटता है, सुषुप्ति अवस्था मे भी जीव का स्वभाव होने से ज्ञान रहता ही है। अत. श्रुतज्ञान स्वय ज्ञानात्मक है और ज्ञान जीव का स्वभाव होने के कारण श्रुतज्ञान स्वय अक्षर ही है।

अक्षर के तीन भेद हैं—(१) सज्ञाक्षर, (२) व्यजनाक्षर और (३) लब्ध्यक्षर।[1]

संज्ञाक्षर[2]—जिस आकृति, वनावट, सस्थान द्वारा यह जाना जाए कि यह अमुक अक्षर है, उसे सज्ञाक्षर कहते हैं। विश्व की विभिन्न लिपियो के अक्षर इसके उदाहरण हैं। वे अपनी आकृति द्वारा उन अक्षरो का वोध कराते हैं, जैसे—अ, आ, इ, ई, उ आदि।

व्यंजनाक्षर[3]—जिससे अकार आदि अक्षरो के अर्थ का स्पष्ट वोध हो, उस प्रकार के उच्चारण को व्यजनाक्षर कहते हैं, अर्थात् व्यजनाक्षर केवल अक्षरो के उच्चारण का नाम है। व्यजनाक्षर का उपयोग केवल वोलने मे ही होता है।

लब्ध्यक्षर[4]—शब्द को सुनकर या रूप को देखकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना लब्ध्यक्षर कहलाता है।

---

१ अक्खरसुय तिविह पण्णत्त, त जहा—सन्नक्खर, वजणक्खर, लद्धिअक्खर। —नन्दीसूत्र ३८

२ सन्नक्खर अक्खरस्स सठाणगिई। —नन्दीसूत्र ३८

३ वजणक्खर अक्खरस्स वजणाभिलावो। —नन्दीसूत्र ३८

४ लद्धिअक्खर—अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खर समुप्पज्जइ। —नन्दीसूत्र ३८

सज्ञाक्षर और व्यजनाक्षर से भावश्रुत पैदा होता है। इसलिए उन दोनो को द्रव्यश्रुत कहते है, क्योकि अक्षर के उच्चारण से उसके अर्थ का वोध होता है और उससे भावश्रुत उत्पन्न होता है। लव्ध्यक्षर को भावश्रुत कहते है। कहा भी है—'शव्दादिग्रहण समनन्तर-मिन्द्रियमनोनिमित्त शव्दार्थ पर्यालोचनानुसारि शखोऽयमित्या-द्यक्षरानुविद्ध ज्ञानमुपजायते इत्यर्थ —शव्द ग्रहण करने के पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो शव्दार्थ पर्यालोचनानुसार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को लव्ध्यक्षर कहते है।

अनक्षरश्रुत[1]—जो शव्द अभिप्राय पूर्वक वर्णनात्मक नही, वल्कि ध्वन्यात्मक किया जाता है, उसे अनक्षरश्रुत कहते हैं। छीकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना, इत्यादि सकेतो से दूसरो का अभिप्राय जानना इसके रूप है।

संज्ञीश्रुत—जिन पचेन्द्रिय जीवो के मन है, वे सज्ञी, और उनका श्रुत सज्ञीश्रुत कहलाता है।

सज्ञा के तीन भेद इस प्रकार है—दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी। इनकी व्याख्या निम्नप्रकार समझना चाहिए।

अमुक काम कर चुका हूँ, अमुक काम कर रहा हूँ और अमुक काम करूँगा इस प्रकार का भूत, वर्तमान और भविष्यत् का ज्ञान जिससे होता है, वह दीर्घकालकी सज्ञा है। यह सज्ञा देव, नारक तथा गर्भज तिर्यच, मनुष्यो को होती है।

---

१ ऊससिय नीससिय निच्छूढ खासिय च छीय च।
निस्सिघियमणुसार अणक्खर छेलियाईय ॥

—नन्दीसूत्र, गाथा ८८

अपने शरीर के पालन के लिए इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु से निवृत्ति के लिए उपयोगी सिर्फ वर्तमानकालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशकी सज्ञा है। यह सज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असज्ञी जीवो के होती है।

दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञा चतुर्दश पूर्वधर को होती है।

असज्ञीश्रुत—जिन जीवो के मन नही है, वे असज्ञी कहलाते है और उनके श्रुत को असज्ञीश्रुत कहते है।

दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञाओ की अपेक्षा सज्ञी और असज्ञी जीवो की व्याख्या निम्नप्रकार समझना चाहिए।

दीर्घकालिकी की अपेक्षा—जिसके ईहा—सदर्थ के विचारने की बुद्धि, अपोह—निश्चयात्मक विचारणा, मार्गणा—अन्वयधर्म-अन्वेषण करना, गवेषणा—व्यतिरेकधर्म स्वरूप-पर्यालोचन, चिन्ता—यह कार्य कैसे हुआ ? वर्तमान मे कैसे हो रहा है और भविष्य मे कैसे होगा ? इस प्रकार से वस्तुस्वरूप को अधिगत करने की शक्ति है, उन्हे सज्ञी कहेगे। इनके अतिरिक्त शेष जीव असज्ञी कहलायेगे। जो गर्भज, औपपातिक—देव, नारक मनपर्याप्ति से सम्पन्न है, वे सज्ञी कहलायेगे। क्योकि त्रैकालिक विषय सम्बन्धी चिन्ता, विमर्श आदि उन्ही के सम्भव हो सकता है तथा जिन्हे मनोलब्धि प्राप्त नही है, उन्हे असज्ञी कहते है। इन असज्ञियो मे समूर्च्छिम पचेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति के जीवो का समावेश हो जाता है।

हेतुवादोपदेश की अपेक्षा—जो बुद्धिपूर्वक स्वदेह पालन के लिये इष्ट आहार आदि मे प्रवृत्ति और अनिष्ट आहार आदि से निवृत्ति लेता है उसे हेतु-उपदेश से सज्ञी कहा जाता है, इसके विपरीत असज्ञी।

इस दृष्टि की अपेक्षा चार त्रस (द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक) सज्ञी और पाच स्थावर (पृथ्वी, जल, तेजस् वायु और वनस्पतिकायिक) असज्ञी है। साराश यह है कि जिन जीवो के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट मे प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है वे सज्ञी और जिन जीवो के बुद्धि-पूर्वक इष्ट-अनिष्ट मे प्रवृत्ति-निवृत्ति नही होती है, वे असज्ञी हैं।

दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा—दृष्टि नाम दर्शन ज्ञान का है। सम्यग्ज्ञान का नाम सज्ञा है। ऐसी सज्ञा जिसके हो वह सज्ञी कहलाता है। 'सज्ञान सज्ञा—सम्यग्ज्ञान तदस्यास्तीति सज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुत तत्सज्ञिश्रुत सम्यक्श्रुतमित। जो सम्यग्दृष्टि क्षयोपशमज्ञान से युक्त है, वह दृष्टिवादोपदेश से सज्ञी कहलाता है और वह रागादि भावशत्रुओ को जीतने मे प्रयत्नशील होता है। उसके श्रुत को सज्ञीश्रुत कहते हैं।

सम्यक्श्रुत—सम्यग्दृष्टि जीवो का श्रुत सम्यक्श्रुत कहलाता है।

मिथ्याश्रुत—मिथ्यादृष्टि जीवो के श्रुत को मिथ्याश्रुत कहते है।

सादिश्रुत—जिसकी आदि (प्रारम्भ, शुरूआत) हो, वह सादिश्रुत है।

अनादिश्रुत—जिसकी आदि न हो, वह अनादिश्रुत है।

सपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसितश्रुत कहलाता है।

अपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसितश्रुत है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि, सपर्यवसित और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अनादि, अपर्यवसित है।

गमिकश्रुत—आदि, मध्य और अवसान मे कुछ विशेषता से उसी सूत्र को वार-वार कहना गमिकश्रुत है, जैसे—दृष्टिवाद ।

अगमिकश्रुत—जिसमे एक सरीखे पाठ न आते हो, उसे अगमिकश्रुत कहते हैं, जैसे कालिकश्रुत ।

अगप्रविष्टश्रुत—जिन शास्त्रो की रचना तीर्थङ्करो के उपदेशानुसार गणधर स्वय करते है, उन्हे अगप्रविष्ट श्रुत कहते है, अर्थात् तीर्थङ्कर वस्तु का स्वरूप—भाव कहते है, प्रतिपादन करते हैं और गणधरो के द्वारा उन भावो को सूत्र रूप में गूँथा जाना अंगप्रविष्ट श्रुत है । आचाराग आदि वारह सूत्र अंगप्रविष्टश्रुत हैं ।

अंगवाह्यश्रुत—गणधरों के अतिरिक्त, अगो का आधार लेकर जो स्थविरों के द्वारा प्रणीत शास्त्र है, वे अगवाह्यश्रुत हैं, जैसे—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्र ।

अगवाह्यश्रुत के दो भेद हैं—(१) आवश्यक और (२) आवश्यक-व्यतिरिक्त । गुणो के द्वारा आत्मा को वश मे करना आवश्यकीय है, ऐसा वर्णन जिसमे हो उसे आवश्यक श्रुत[१] कहते हैं । इसके छह अध्ययन है—सामायिक, जिनस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान । आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत के भी अनेक प्रकार हैं, जिनकी विशेष व्याख्या व नाम आदि की जानकारी के लिए नन्दीसूत्र देखे ।

सपर्यवसित और सान्त (अन्तसहित) दोनो का अर्थ एक ही है । इसी प्रकार अपर्यवसित और अनन्त एकार्थक है । सादिश्रुत, अनादि-

---

१ 'आवश्यक' शब्द की विशेष व्याख्या के लिए अनुयोगद्वार सूत्र, अध्याय ८ देखें ।

श्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसितश्रुत इन चार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा चार-चार प्रकार होते हैं। वे इस प्रकार है—

द्रव्यापेक्षा—एक जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि-प्रारम्भ सहित और सपर्यवसित—अन्तसहित है । अर्थात् जब जीव को सम्यक्त्व हुआ तो उसके साथ श्रुतज्ञान भी हुआ। इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि-आदि-सहित हुआ और जब सम्यक्त्व का त्याग करता है तब अथवा केवलज्ञानी होता है, तब श्रुतज्ञान के क्षायोपशमिक होने से अपूर्ण है और केवलज्ञान क्षायिक होने से यानी पूर्णता को प्राप्त होने से श्रुतज्ञान का अत हो जाता है। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि-सान्त (सपर्यवसित) है।

समस्त जीवो की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि, अपर्यवसित—अनन्त है, क्योकि ससार मे सबसे पहले अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ और अमुक जीव के मुक्त होने से अन्त हो गया, ऐसा नही कहा जा सकता है। अतएव सब जीवो की अपेक्षा धाराप्रवाह रूप से श्रुतज्ञान अनादि, अपर्यवसित—अनन्त है।

क्षेत्रापेक्षा—श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है, जैसे—भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे तीर्थङ्करो द्वारा जब तीर्थ की स्थापना होती है, तब द्वादशागी श्रुतज्ञान की आदि और जब तीर्थ का विच्छेद होता है तब श्रुतज्ञान का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि-सान्त हुआ। लेकिन महाविदेह क्षेत्र मे तीर्थ का कभी विच्छेद नही होता है, इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

कालापेक्षा—श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है, क्योकि तीसरे आरे के अन्त मे और चौथे, पाँचवे आरे मे रहता है

तथा छठे आरे मे नष्ट हो जाता है। किन्तु नोउत्सर्पिणी, नोअवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

भावापेक्षा—श्रुतज्ञान मे श्रुत शब्द से सम्यक्श्रुत (सुश्रुत) और मिथ्याश्रुत (कुश्रुत) रूप दोनो का ग्रहण किया गया है। श्रुतज्ञान सादि, सान्त और अनादि, अनन्त है। भव्य जीवो के सम्यक् भावों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है और अभव्य जीवो के भावो की अपेक्षा से मिथ्या रूप श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

भव्यत्व और अभव्यत्व दोनो जीवो के पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो द्रव्य के अस्तित्व से स्वयमेव हुआ करता है, अर्थात् द्रव्य के स्वाभाविक स्वरूप परिणमन को पारिणामिक भाव कहते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के चौदह प्रकारो का कथन हो जाने के अनन्तर अब वीस भेदो को सक्षेप मे समझाते हैं।

गाथा मे पर्याय, अक्षर आदि दस नाम गिनाये है। उन नामो तथा उन नामो मे से प्रत्येक के साथ समास शब्द जोड देने से श्रुतज्ञान के वीस भेदो के नाम निम्नप्रकार से समझ लेने चाहिए—

(१) पर्यायश्रुत,
(२) पर्यायसमासश्रुत,
(३) अक्षरश्रुत
(४) अक्षरसमासश्रुत,
(५) पदश्रुत,
(६) पदसमासश्रुत,
(७) सघातश्रुत,
(८) सघातसमासश्रुत,
(९) प्रतिपत्तिश्रुत,
(१०) प्रतिपत्तिसमासश्रुत,
(११) अनुयोगश्रुत,
(१२) अनुयोगसमासश्रुत,
(१३) प्राभृत-प्राभृतश्रुत,
(१४) प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत
(१५) प्राभृतश्रुत,
(१६) प्राभृतसमासश्रुत

(१७) वस्तुश्रुत,
(१८) वस्तुसमासश्रुत,
(१९) पूर्वश्रुत और
(२०) पूर्वसमास श्रुत।

इन वीस भेदो को सक्षेप मे समझने से पहले समास शब्द का आशय बतलाते हैं।

अधिक, समुदाय या सग्रह को **समास** कहते है।

(१) उत्पत्ति के प्रथम समय मे लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के होने वाले कुश्रुत के अश से दूसरे समय मे ज्ञान का जितना अश वढता है, वह **पर्यायश्रुत** है।

(२) उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय अर्थात् दो तीन, चार आदि सख्याओ को **पर्यायसमासश्रुत** कहते है।

(३) अकारादि लब्ध्यक्षरो मे से किसी एक अक्षर के ज्ञान को **अक्षरश्रुत** कहते है।

(४) लब्ध्यक्षरो के समुदाय को, अर्थात् एक से अधिक दो, तीन, चार आदि सख्याओ के ज्ञान को **अक्षरसमासश्रुत** कहते हैं।

(५) अर्थाववोधक अक्षरो के समुदाय को पद और उसके ज्ञान को **पदश्रुत** कहते हैं।

(६) पदो के समुदाय का ज्ञान **पदसमासश्रुत** कहलाता है।

(७) गति आदि चौदह मार्गणाओ मे से किसी एक मार्गणा के एकदेश के ज्ञान को **संघातश्रुत** कहते है। जैसे—गतिमार्गणा के देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक—ये चार भेद हैं। उनमे से एक का ज्ञान होना सघातश्रुत है।

(८) किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवो का ज्ञान **सघातसमासश्रुत** कहलाता है।

(९) गति, इन्द्रिय आदि द्वारो मे से किसी एक द्वार के जरिये समस्त ससार के जीवो को जानना **प्रतिपत्तिश्रुत** है।

(१०) गति आदि दो-चार द्वारो के जरिये जीवो का ज्ञान होना **प्रतिपत्तिसमासश्रुत** है।

(११) 'सतपय परूवणया दव्व पमाण च' इस गाथा मे कहे हुए अनुयोग द्वारो मे से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थो को जानना **अनुयोगश्रुत** है।

(१२) एक से अधिक दो-तीन अनुयोग द्वारों का ज्ञान **अनुयोग-समासश्रुत** है।

(१३) दृष्टिवाद अंग मे प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार है। उनमे से किसी एक का ज्ञान **प्राभृत-प्राभृतश्रुत** है।

(१४) दो-चार प्राभृत-प्राभृतो के ज्ञान को **प्राभृत-प्राभृतसमास-श्रुत** कहते हैं।

(१५) जिस प्रकार कई उद्देशो का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृत-प्राभृतो का एक प्राभृत होता है। उस एक का ज्ञान होना **प्राभृतश्रुत** है।

(१६) एक से अधिक प्राभृतो के ज्ञान को **प्राभृतसमासश्रुत** कहते है।

(१७) कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है, उसमे से एक का ज्ञान **वस्तुश्रुत** है।

(१८) दो-चार वस्तु अधिकारो के ज्ञान को **वस्तुसमासश्रुत** कहते है।

(१९) अनेक वस्तुओ का एक पूर्व होता है। उसमे से एक का ज्ञान **पूर्वश्रुत** कहलाता है।

(२०) दो-चार आदि चौदह पूर्वों तक के ज्ञान को **पूर्वसमासश्रुत** कहते है।

चौदह पूर्वो के नाम इस प्रकार है—

(१) उत्पाद, (२) आग्रयणीयप्रवाद (३) वीर्यप्रवाद
(४) अस्तिनास्तिप्रवाद, (५) ज्ञानप्रवाद
(६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद
(९) प्रत्याख्यानप्रवाद (१०) विद्याप्रवाद
(११) कल्याण, (१२) प्राणवाद, (१३) क्रियाविशाल
और (१४) लोकबिन्दुसार।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। शास्त्र के वल से श्रुतजानी साधारणतया सव द्रव्य, सव क्षेत्र, सव काल और सव भावो को जानते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनो परोक्ष जानो का कथन हो जाने के वाद अव आगे की गाथाओ मे प्रन्यक्षज्ञानो—अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान—का वर्णन करते है।

अणुगामि वढ्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइ विउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

गाथार्थ—अनुगामी, वर्धमान, प्रतिपाती और इनमे प्रत्येक के प्रतिपक्षी नामो को जोडने से अवधिज्ञान के छह भेद होते है। ऋजुमति और विपुलमति—ये मन पर्यायज्ञान के दो भेद हैं तथा केवलज्ञान का एक भेद है, अर्थात् केवलज्ञान का अन्य कोई भेद नही होता है।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान—ये तीनो ज्ञान आत्मा से होने वाले ज्ञान होने से प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है, जिनका क्रमश वर्णन किया जाएगा। सर्वप्रथम अवधिज्ञान का वर्णन करते हैं।

अवधिज्ञान के भेद

अवधिज्ञान के दो भेद है—(१) भवप्रत्यय तथा (२) गुण-प्रत्यय।[1] गुणप्रत्यय को क्षयोपशमजन्य भी कहते हैं। किसी गति मे सिर्फ जन्म लेने की और किसी गति मे सयम, व्रत, तप आदि गुणो की अपेक्षा होने से अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो प्रकार कहे गये है। इनकी विशद व्याख्या इस प्रकार है—

भवप्रत्यय अवधिज्ञान[2]—भव और प्रत्यय इन दो शब्दो मे निष्पन्न यह शब्द बना है। भव माने जन्म और प्रत्यय माने कारण, अर्थात् जो अवधिज्ञान उस-उस गति मे जन्म लेने से ही प्रगट होता है, जिसके लिए संयम, तप आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नही रहती उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते है।

यह अवधिज्ञान देव और नारको मे होता है और उनके जीवन-पर्यन्त रहता है।

---

१ ओहिनाण-पच्चक्ख दुविह पण्णत्त, त जहा—भवपच्चइय, च खाओव-समिय च। —नन्दीसूत्र, ६

२ (क) दोण्ह भवपच्चइए पण्णत्ते, त जहा—देवाण चेव नेरइयाण चेव। —स्थानांग, स्थान २. उ० १, सूत्र ७१

(ख) भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २१

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान जन्म लेने से नही, किन्तु जन्म लेने के वाद यम-नियम और व्रत आदि अनुष्ठान के वल से उत्पन्न होता है, उसे गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान कहते हैं।

यह अवधिज्ञान देव और नारको के नही होता, किन्तु मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यंच जीवो को ही होता है।[1]

भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय अवधिज्ञा में अन्तर

यद्यपि गुणप्रत्यय की तरह भवप्रत्यय अवधिज्ञान मे भी सामान्यतया क्षयोपशम (तयावरणिज्जाणकम्माण उदिण्णाण खएणं अणुदिण्णाण उवसमेण) तो अपेक्षित है ही किन्तु यहाँ जो भव की मुख्यता का कथन किया जाता है, वह निमित्त-भेद की अपेक्षा से किया जाता है। देहधारियो की कुछ जातियाँ ऐसी हैं कि जिनमे जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और उसके द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, अर्थात् उन जाति वालो को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए उस जन्म मे व्रत, तप आदि अनुष्ठान नही करने पडते है। ऐसे जीवो को अपनी स्थिति के अनुरूप न्यूनाधिक रूप मे जन्म लेते ही अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह उस गति मे जीवनपर्यन्त रहता है। जैसे कि पक्षी जाति मे जन्म लेने से ही आकाश मे उडने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके विपरीत मनुष्य जाति मे जन्म लेने मात्र से कोई आकाश मे नही उड सकता, जब तक कि वायुयान आदि का सहारा न ले।

---

१ दोण्ह खओवसमिए पण्णत्ते, त जहा—मणुस्साण चेव पंचिदिय-तिरिक्ख-जोणियाण चेव।

—स्थानाग, स्थान २, उद्दे० १, सूत्र ७१

उक्त उदाहरण मे पक्षी को आकाश मे उड़ने की शक्ति जन्मत प्राप्त होने का सकेत किया है, उसी प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञान के लिए समझ लेना चाहिए कि देव-नारको को उस-उस जाति मे जन्म लेने से अवधिज्ञान हो जाता है। वहाँ आपेक्षिक दृष्टि से जन्म की मुख्यता और क्षयोपशम की गौणता है। इसीलिए भव की मुख्यता की अपेक्षा भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है।

इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं, जिनमे जन्म लेने मात्र से ही अवधिज्ञान नही हो जाता है। किन्तु व्रत-अनुष्ठान आदि के द्वारा अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम होने पर किन्ही व्यक्ति-विशेषो को अवधिज्ञान होना और उसमे वृद्धिहानि होना भी सभव है। इसीलिए ऐसे अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान मे यावज्जीवन कुछ फर्क—अन्तर नही पडता है, वह समान रहता है। समानता मे अल्पता, अधिकता आदि नही होती है। किन्तु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मे वृद्धि-ह्रास-जन्य तरतमता होने से अल्पाधिकता होती है। इसलिए गाथा मे उक्त दोनो प्रकार के अवधिज्ञान मे से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के निम्न-लिखित छह भेद बताये हैं—

(१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) प्रतिपाती (६) अप्रतिपाती।[१] इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

अनुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोडकर दूसरे

---

१. छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते, त जहा—अणुगामिए, अणाणुगामिते, वड्ढमाणते, हीयमाणते, पडिवाती, अपडिवाती।

—स्थानाग, स्थान ६, सूत्र ५२६

स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है, उसे अनुगामी कहते है , अर्थात् जिस स्थान पर जिस जीव मे यह अवधि ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस स्थान के चारो ओर सख्यात-असख्यात योजन तक देखता है । इसी प्रकार उस जीव के दूसरे स्थान पर जाने पर भी वह उतने क्षेत्र को जानता-देखता है, उसे अनुगामी कहते हैं । (अनु—पश्चात् गमन इति अनुगमन—अनुगच्छतीति, तस्य भाव आनुगामिक, अर्थात् जो जीव के साथ-साथ जाता रहता है, उसे आनुगामिक कहते है ।)

अननुगामी—जो साथ न चले, किन्तु जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी स्थान मे स्थित होकर पदार्थों के जाने और उत्पत्ति स्थान को छोड देने पर न जाने, उसे अननुगामी कहते है । जैसे किसी का ज्योतिष ज्ञान ऐसा होता है कि अपने निश्चित स्थान पर तो प्रश्नो का ठीक से उत्तर दे सकता है किन्तु दूसरे स्थान पर नही । इस प्रकार का अपने ही स्थान पर अवस्थित रहने वाले अवधिज्ञान को अननुगामी कहते हैं ।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अल्प विषय वाला होने पर भी परिणाम-विशुद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिनोदिन वढे, अर्थात् अधिकाधिक विषय वाला हो जाता है, वह वर्धमान कहलाता है । जैसे दियासलाई से पैदा की हुई चिनगारी सूखे इँधन के सयोग से क्रमश वढती जाती है, वैसे ही इस अवधिज्ञान के लिए समझना चाहिए ।

हीयमान—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामो की अशुद्धि के कारण दिनो-दिन क्रमश अल्प, अल्पतर और अल्पतम विषय वाला हो जाए, उसे हीयमान कहते हैं ।

प्रतिपाती— इसका अर्थ पतन होना, गिरना और समाप्त हो जाना है। जो अवधिज्ञान जगमगाते दीपक के वायु के झौके से एका-एक बुझ जाने के समान एकदम लुप्त हो जाता है, उसे प्रतिपाती कहते है। यह अवधिज्ञान जीवन के किसी भी क्षण मे उत्पन्न और लुप्त भी हो सकता है।

अप्रतिपाती—जिस अवधिज्ञान का स्वभाव पतनशील नही है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं। केवलज्ञान होने पर भी अप्रतिपाती अवधिज्ञान नही जाता है, क्योकि वहाँ अवधिज्ञानावरण का उदय नही होता है, जिससे जाए। अपितु वह केवलज्ञान मे समा जाता है एव केवल-ज्ञान के समक्ष उसकी सत्ता अकिंचित्कर होती है, जैसे कि सूर्य के समक्ष दीपक का प्रकाश।

यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान वारहवे गुणस्थानवर्ती जीवो के अन्त समय मे होता है और उसके वाद तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के प्रथम समय के साथ केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस अप्रति-पाती अवधिज्ञान को परमावधि ज्ञान भी कहते हैं।[1]

हीयमान और प्रतिपाती अवधिज्ञान मे यह अन्तर है कि हीयमान का तो पूर्वापेक्षा धीरे-धीरे ह्रास हो जाता है और प्रतिपाती दीपक की तरह एक ही क्षण मे नष्ट हो जाता है।

अवधिज्ञान के उक्त छह भेद नन्दीसूत्र के अनुसार वतलाये गये हैं। लेकिन कही-कही प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्थान पर अन-वस्थित और अवस्थित यह दो भेद मानकर छह भेद गिनाये हैं। अनवस्थित और अवस्थित के लक्षण ये हैं—

---

१ यद्यपि अनुगामी और अननुगामी इन दो भेदो मे शेष भेदो का अन्तर्भाव हो सकता है। लेकिन वर्धमान, हीयमान आदि विशेष भेद वतलाने के लिए उनका पृथक्-पृथक् न्याम किया गया है।

अनवस्थित—जल की तंरग के समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढता है, कभी आविर्भूत हो जाता है और कभी तिरोहित हो जाता है, उसे अनवस्थित कहते हैं।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा मे अवस्थित रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्ति-पर्यन्त अथवा आजन्म ठहरता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है।

उक्त दोनो भेद प्राय प्रतिपाती और अप्रतिपाती के समान लक्षण वाले है। किन्तु मात्र नामभेद की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे जा सकते हैं। अन्य कोई पार्थक्य नही हैं।

अवधिज्ञान का द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा वर्णन

अवधिज्ञान रूपी पदार्थो को जानता है। लेकिन कितने, कैसे आदि इस क्षयोपशमजन्य तरतमता को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा की अपेक्षा से स्पष्ट करते हैं।

द्रव्य से—अवधिज्ञानी जघन्य से, अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यो को जानते-देखते हैं और उत्कृष्ट से अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यो को जानते-देखते है।

क्षेत्र से—अवधिज्ञानी जघन्य से अगुल के असख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यो को जानते-देखते है और उत्कृष्ट से लोक के क्षेत्रगत रूपी द्रव्य को और अलोक मे भी कल्पना से यदि लोकप्रमाण से असख्यात खण्ड किये जाये तो अवधिज्ञानी उन्हे भी जानने-देखने की शक्ति रखता है।

यद्यपि अलोक मे कोई पदार्थ नही है, तथापि यह कल्पना अवधिज्ञान की सामर्थ्य दिखाने के लिए की गई है कि अलोक मे लोक-

प्रमाण असख्यात खड जितने क्षेत्र को घेर सकते है, उतने क्षेत्र के रूपी द्रव्यो को जानने और देखने की भी शक्ति अवधिज्ञानी मे होती है।

काल से—अवधिज्ञानी जघन्य से आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र के रूपी द्रव्यो को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अतीत और अनागत काल के रूपी द्रव्यो को जानता-देखता है।

भाव से—जघन्य से रूपी द्रव्य की अनन्त पर्यायो को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से भी अनन्त पर्यायो को जानता-देखता है।

अनन्त के अनन्त भेद होते है। चाहे ये भेद जोड, वाकी, गुणा और भाग रूपो मे से किसी भी प्रकार के हो। फिर भी अनन्त भेद ही होगे। इसलिए जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त मे अन्तर समझ लेना चाहिए। अनन्त भाव का आशय सम्पूर्ण भावो के अनन्तवे भाव जितना समझ लेना चाहिए।

जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति और श्रुत को कुमति और कुश्रुत (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञान को विभगज्ञान कहते हैं।[1]

अवधिज्ञान का वर्णन करने के अनन्तर अव मन पर्यायज्ञान का कथन करते हैं।

---

१ (क) अणाण परिणामेण भन्ते कतिविघे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, त जहा—मइअणाण परिणामे, सुयअणाण परिणामे, विभगणाण परिणामे। —प्रज्ञापना, पद १३

(ख) मतिश्रुतावधयो विपर्यश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ३१

मन पर्यायज्ञान—मन पर्यायज्ञान के दो भेद होते है—ऋजुमति और विपुलमति ।[1]

ऋजुमति—दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरूप को जानना, अर्थात् विषय को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मन-पर्यायज्ञान कहलाता है ।

विपुलमति—दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ की अनेक पर्यायो को जानना, अर्थात् चिन्तनीय वस्तु की पर्यायो को विविध विशेपताओ सहित स्फुटता से जानना विपुलमति मन पर्यायज्ञान कहलाता है ।

ऋजुमति और विपुलमति मन पर्यायज्ञान में अन्तर

यद्यपि ऋजुमति और विपुलमति मन.पर्यायज्ञान दोनो ज्ञान होने से विशेप को जानते है, तो भी ऋजुमति को जो सामान्यग्राही कहा जाता है, उसका मतलब इतना है कि वह विशेषो को जानता है, परन्तु विपुलमति जितने विशेपो को नही जानता है । इसीलिए इन दोनो की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशेपता बतलाते हैं—

द्रव्य से—ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त-अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धो को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशो वाले स्कन्धो को विशुद्धता और अधिक स्पष्टता से जानता-देखता है ।

क्षेत्र से—ऋजुमति जघन्य से अगुल के असख्यातवे भाग मात्र क्षेत्र को तथा उत्कृष्ट से नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्षुल्लक

---

१ मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—उज्जुमति चेव विउलमति चेव ।
—स्थानांग, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१

केवलज्ञान नित्य, निरावरण, शाश्वत और अनन्त होता है, जबकि शेष क्षायोपशमिक चारो ज्ञान वैसे नही है। केवलज्ञान के मतिज्ञान आदि की तरह अवान्तर भेद नही होते है।

शक्ति की अपेक्षा एक साथ कितने ज्ञान ?

ज्ञान के उक्त पाँच भेदो मे से एक आत्मा मे एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक भजना से हो सकते है, अर्थात् किसी आत्मा मे एक, किसी मे दो, किसी मे तीन और किसी मे चार ज्ञान तक सभव है। परन्तु पाँचो ज्ञान एक साथ किसी मे नही होते है। क्योकि यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान समझना चाहिए। क्योकि केवलज्ञान परिपूर्ण होने से उसके साथ अन्य चार ज्ञान अपूर्ण होने से नही हो सकते। जब दो होते है तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होगे। क्योकि पाँच ज्ञानो मे से ये दोनो ज्ञान सहचारी है। समस्त ससारी जीवों के ये दोनो ज्ञान सहचारी रूप से रहते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं, तब मति, श्रुत, अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत, मन पर्यायज्ञान। क्योकि तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था मे ही सभव है और उस अवस्था मे चाहे अवधिज्ञान हो, या मन पर्यायज्ञान, परन्तु मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते है। जब चारो ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मन:-पर्यायज्ञान। क्योकि ये चारो ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं।

यह जो दो, तीन, चार ज्ञानो का एक साथ होना सभव कहा गया है, सो शक्ति की अपेक्षा से, अभिव्यक्ति की अपेक्षा से नही।[1]

---

१. (क) जीवाभि-प्रतिपत्ति ३, सूत्र ४१

(ख) एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।

—तत्त्वार्थ अ० १, सू० ३०

मन.पर्यायज्ञान और केवलज्ञान पच महाव्रतधारी मनुष्य को होते है, अन्य को नही।

इस तरह मतिज्ञान से २८, श्रुतज्ञान के १४ अथवा २०, अवधिज्ञान के ६, मन पर्यायज्ञान के २ और केवलज्ञान का एक भेद—इन सब भेदो को मिलाने से पाचो ज्ञानो के ५१ या ५७ भेद होते हैं।

ज्ञान के पाचो भेदो का वर्णन हो जाने के बाद आगे की गाथा मे उनके आवरणो और दर्शनावरण कर्म के भेदो की सख्या का कथन करते है।

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स त तयावरणं।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दसणावरण ॥६॥

गाथार्थ—ऑख की पट्टी के समान इन मतिज्ञान आदि पाचो ज्ञानो का जो आवरण है, वह उन ज्ञानो का आवरण कहलाता है। दर्शनावरण कर्म द्वारपाल के समान है और उसके चार दर्शनावरण और पॉच निद्रा कुल मिलाकर नौ भेद होते है।

ज्ञानावरण कर्म का स्वरूप

विशेषार्थ—ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण कहते है। जैसे आँख पर पट्टी बाधने पर देखने मे रुकावट आती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के जानने मे रुकावट आती है। लेकिन यह रुकावट ऐसी नही होती है कि जिससे आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो। जैसे घने बादलो से सूर्य के ढक जाने पर भी दिन-रात का भेद समझाने वाला सूर्य का कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य बना रहता है। इसी प्रकार कर्मों का चाहे जैसा

प्रतर (कुवडी उडोविजय) तक को और ऊपर ज्योतिप चक्र के उपरितल पर्यन्त और तिरछे अढाई द्वीप पर्यन्त के सज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अढाई अंगुल अधिक तिरछी दिशा मे क्षेत्र के सज्ञी जीवो के मनोगत भावो को देखता-जानता है ।

काल से—ऋजुमति जघन्य से पल्योपम के असख्यातवे भाग को और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असख्यातवे भाग—भूत और भविष्यत् के मनोगत भावो को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के मन से चिन्तित या जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थो को विशुद्ध, भ्रमरहित जानता-देखता है ।

भाव से—ऋजुमति मनोगत भावों की असख्यात पर्यायो को जानता-देखता है, लेकिन सब भावो के अनन्तवे भाग को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायो को विशुद्ध, भ्रमरहित जानता देखता है ।

उक्त दोनो प्रकार के मन.पर्यायज्ञानो मे द्रव्यादि की अपेक्षा विशेषता होने के साथ-साथ निम्नलिखित कुछ और विशेषताएँ हैं—

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन पर्यायज्ञान सूक्ष्मतर और अधिक विशेषो को स्फुटतया जानता है ।

ऋजुमति उत्पन्न होने के वाद कदाचित् चला भी जाता है परन्तु विपुलमति मन.पर्यायज्ञान नही जाता है। वह केवलज्ञान मे परिणत हो जाता है और तव उसकी सत्ता अकिंचित्कर होती है ।[1]

---

१ (क) उज्जुमई अणते अणतपएसिए खधे जाणइ, पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ, पासइ ·· इत्यादि । —नन्दीसूत्र १८

(ख) विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्या तद्विशेष । —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २४

अवधिज्ञान और मन.पर्यायज्ञान में अन्तर

अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान—ये दोनो विकल—अपूर्ण—पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप से समान होने पर भी इन दोनो मे विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकृत अन्तर है। जैसे—

(१) मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को विशद रूप से जानता है। इसलिए उससे विशुद्धतर है।

(२) अवधिज्ञान का क्षेत्र अगुल के असख्यातवे भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक है जबकि मन पर्यायज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तरपर्वत पर्यन्त मध्यलोक है।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारो गति वाले हो सकते है, किन्तु मन पर्यायज्ञान के स्वामी ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त—सयत मनुष्य ही होते है।

(४) अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, परन्तु मन पर्यायज्ञान का विषय तो मनोद्रव्य मात्र है।

(५) अवधिज्ञान परभव मे भी साथ जा सकता है, जबकि मन-पर्यायज्ञान इहभविक ही होता है।

अब केवलज्ञान का कथन करते है—

केवलज्ञान—जो ज्ञान किसी की सहायता के विना सम्पूर्ण ज्ञेयपदार्थो को विषय करता है, अर्थात् इन्द्रियादि की सहायता के विना मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेय पदार्थों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखने वाला ज्ञान है, उसे केवलज्ञान कहते है।

मतिज्ञानादि चारो क्षायोपशमिक ज्ञान विशुद्ध हो सकते है किन्तु विशुद्धतम नही हो सकते हैं, जबकि केवलज्ञान विशुद्धतम होता है।

गाढ आवरण हो जाय, लेकिन आत्मा को कुछ-न-कुछ ज्ञान अवश्य रहता है। क्योकि ज्ञान आत्मा का गुण है और आवरण ज्ञानगुण को आच्छादित तो कर सकता है, समूलोच्छेद नही कर सकता है। किन्तु केवलज्ञान का अनन्तवा भाग तो नित्य उद्घाटित-अनावरित ही रहता है।[1] यदि ज्ञान का समूलोच्छेद हो जाय तो फिर जीव जीव ही न रहे, अजीव हो जाये, जीव-अजीव का कोई भेद न रहे। ज्ञान आत्मा का गुण (स्वभाव) नही माना जा सकता है। ज्ञान के द्वारा ही तो जीव अजीव का भेद किया जाता है कि ज्ञान जीव का गुण है, अजीव का नही। स्वभाव का कभी नाश नही होता है। इसलिए ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित ही कर सकता है। समूल नाश नही।

यहाँ आखो पर पट्टी का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जैसे मोटे, पतले कपडे की पट्टी होगी, तदनुसार कम-ज्यादा दिखेगा। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की आच्छादन शक्ति मे भी न्यूनाधिक रूप से पृथक्-पृथक् शक्ति होती है।

ज्ञान के पाँचो भेदो का कथन पूर्व मे किया गया है। अत. उनके आवरण करने वाले कर्म के निम्नलिखित पाँच भेद होते है—

(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन.पर्यायज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।[2]

---

१ सव्वजीवाणा पि य ण अक्खरस्स अणतभागोणिच्चुग्घाडिओ हवई।
जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्त पावेज्जा ॥
—नन्दीसूत्र ७५

२ (क) नाणावरण पचविह सुय आभिणिबोहिय।
ओहिनाण च तइय मणनाण च केवल ॥
—उत्तराध्ययन, उ० ३३, गा० ४

इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

मतिज्ञानावरण—मतिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म मतिज्ञानावरण कहलाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के मतिज्ञानो के आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मो को भी मतिज्ञानावरण कहेगे। क्योकि पूर्व मे जो मतिज्ञान के अट्ठाइस, तीनसौ छत्तीस व तीनसौ चालीस भेद बतलाये है तो उनके आवरण करने वाले कर्मों के नाम भी उतने ही होगे। लेकिन वे सब भेद मतिज्ञान के हैं, इसलिए उन सबका सामान्य से मतिज्ञान शब्द से और उन-उनका आवरण करने वाले कर्मों का मतिज्ञानावरण इस एक शब्द से ग्रहण कर लिया गया है।

श्रुतज्ञानावरण—श्रुतज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरण कहते है। पहले श्रुतज्ञान के चौदह या बीस भेद कहे गये हैं। उनके आवरण करने वाले कर्मों को भी सामान्य की अपेक्षा श्रुतज्ञानावरण कहते हैं।

अवधिज्ञानावरण—जो कर्म अवधिज्ञान का आवरण करता है। पूर्वोक्त अवधिज्ञानो के आवरण करने वाले कर्मों को भी अवधिज्ञानावरण कहते है।

मन पर्यायज्ञानावरण—जो कर्म मन पर्यायज्ञान का आवरण करे। मन.पर्यायज्ञानो का आवरण करने वाले कर्म को भी मन पर्यायज्ञानावरण कहते हैं।

केवलज्ञानावरण—केवलज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को केवलज्ञानावरण कहते हैं।

(ख) स्थानाग, स्थान ५, उ० ३, सूत्र ४६४

(ग) मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानाम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र ६

ज्ञानावरण कर्म की उक्त पाँच प्रकृतिया सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[1] जो प्रकृति अपने घात्य ज्ञान गुण का पूर्णतया घात करे, वह सर्वघाती और जो अपने घात्य ज्ञान गुण का आशिक रूप से घात करे, वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण यह चार प्रकृतियाँ देशघाती है और केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। सर्वघाती कहने का आशय प्रवलतम आवरण की अपेक्षा से है। केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नही करता है, परन्तु केवलज्ञान का सर्वथा निरोध करता है।

दर्शनावरण कर्म के स्वभाव के लिए द्वारपाल का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार राजद्वार पर बैठा हुआ द्वारपाल किसी को राजा के दर्शन नही करने देता, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म जीव को पदार्थों को देखने की शक्ति मे रुकावट डालता है। दर्शनावरण चतुष्क और पाँच निद्राओ को मिलाकर दर्शनावरण कर्म के नौ भेद होते हैं।

दर्शनावरण चतुष्क के नाम और लक्षण आगे की गाथा मे कहते है।

चक्खूदिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च।
दसणमिह सामन्नं तस्सावरण तयं चउहा ॥१०॥

गाथार्थ—नेत्र तथा नेत्र के सिवाय अन्य चार इन्द्रियो व मन तथा अवधि व केवल इनसे दर्शन के चार भेद होते है। यहाँ वस्तु मे विद्यमान सामान्य धर्म के ग्रहण को दर्शन कहा गया

---

१ णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।

—स्थानागसूत्र २।४।१०५

है। दर्शन के चार प्रकार कहे गये हैं, अत उसके आवरण करने वाले कर्मों के भी चार भेद समझने चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का स्वरूप

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थ मे सामान्य व विशेष रूप दो धर्म रहते हैं, उनमे से सामान्य धर्म की अपेक्षा जो पदार्थों की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते है और दर्शन को आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं।

दर्शन के चार भेद कहे गये है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। दर्शन के इन चार भेदो का आवरण करने से दर्शनावरण के भी उस नाम वाले निम्नलिखित चार भेद हो जाते है—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

चक्षुदर्शनावरण—चक्षु के द्वारा जो वस्तु के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते है और उस सामान्य-धर्म के ग्रहण को रोकने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण—चक्षुरिन्द्रिय को छोडकर शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियो और मन के द्वारा होने वाले अपने-अपने विषयभूत सामान्य धर्म के प्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते है। उसके आवरण करने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते है।

अवधिदर्शनावरण—इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म के वोध होने को अवधिदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करने वाले कर्म को अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवलदर्शनावरण—सम्पूर्ण द्रव्यो के होने वाले सामान्य धर्म के अव-बोध को केवलदर्शन एवं उसके आवरण करने वाले को केवलदर्शना-वरण कहते हैं।

अवधिदर्शन की तरह मन.पर्यायदर्शन नही मानने का कारण यह है कि मन.पर्यायज्ञान क्षयोपशम के प्रभाव से पदार्थो के विशेष धर्मों को ग्रहण करते हुए उत्पन्न होता है, सामान्य धर्म को ग्रहण करते हुए उत्पन्न नही होता है।

चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवो के जन्म से ही नेत्र नही होते हैं एव चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवो के नेत्र उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाते हैं अथवा रतौंधी आदि नेत्ररोग हो जाने से कम दीखने लगता है। इसी प्रकार चक्षु-रिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियो और मन का जन्म से ही न होना अथवा जन्म से होने पर भी कमजोर या अस्पष्ट होना अचक्षुदर्शना-वरण कर्म के उदय के कारण होता है।

इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ भेदो मे से चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदो का कथन करने के अनन्तर निद्रा, निद्रा–निद्रा आदि शेष पाँच भेदो एव वेदनीय कर्म का कथन आगे की दो गाथाओं मे करते हैं।

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस पयलपयला य चंकमओ॥११॥
दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्कि अद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहण व दुहा उ वेयणियं॥१२॥

गाथार्थ—जिसमे सरलता से प्रतिबोध हो, उसे निद्रा और जिसमे कष्ट से प्रतिबोध हो उसे निद्रा-निद्रा तथा बैठे-बैठे या

खडे-खड़े जो नीद आये उसे प्रचला एव चलते-चलते नीद आने को प्रचला-प्रचला निद्रा कहते है। दिन मे विचार किये हुए कार्य को रात्रि मे निद्रावस्था मे करने वाली निद्रा को स्त्यानर्द्धि निद्रा कहते है। इस निद्रा मे जीव को अर्धचक्री अर्थात् वासुदेव के वल से आधे वल जितनी शक्ति हो जाती है। वेदनीय कर्म मधु (शहद) से लिप्त तलवार की धार को चाटने के समान है और यह कर्म दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्म के नौ भेदो मे से चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदो का वर्णन पूर्व गाथा मे हो चुका है और शेष पाँच भेदों व वेदनीयकर्म का कथन यहाँ किया जाता है।

दर्शनावरण के शेष पॉच भेदो के नाम क्रमश इस प्रकार है–निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।[1] इनके लक्षण इस प्रकार है—

निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी निद्रा आये कि सुख-पूर्वक जाग सके, अर्थात् जगाने मे मेहनत नही पडती है, ऐसी निद्रा को निद्रा कहते है।

---

१ (क) णवविवे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, त जहा निद्दा, निद्दानिद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी चक्खुदसणावरणे, अचक्खुदसणावरणे, अवधिदसणावरणे, केवलदसणावरणे।

—स्थानांग०, स्था० ९, सूत्र ६६८

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, गाथा ५, ६

(ग) चक्षुरचक्षु रवधिकेवलाना निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचला स्त्यान-गृद्धयश्च।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८, सूत्र ७

निद्रा-निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को नींद से जगाना अत्यन्त दुष्कर हो, अर्थात् जो सोया हुआ जीव बडे जोर से चिल्लाने या हाथ से जोर से हिलाने पर भी मुश्किल से जागता है, ऐसी नींद को निद्रा-निद्रा कहते हैं।

प्रचला—जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खडे-खडे ही नींद आने लगे, उसको प्रचला कहते हैं।

प्रचला-प्रचला—जिस कर्म के उदय से चलते-फिरते ही नींद आ जाय, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं।

स्त्यानर्द्धि—जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था मे सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था मे करने की सामर्थ्य प्रकट हो जाय, उसे स्त्यानर्द्धि कहते है। इस निद्रा के उदय मे जीव नींद मे ऐसे असभव कार्यों को भी कर लेता है, जिनका जाग्रत स्थिति मे होना सभव नही है और इस निद्रा के दूर होने पर अपने द्वारा निद्रित अवस्था मे किये गये कार्य का स्मरण भी नही रहता है।

स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है। जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था मे विशेष वल प्रकट हो जाये (**स्त्याने स्वप्ने यथा वीर्यविशेषप्रादुर्भाव सा स्त्यानगृद्धि**) अथवा जिस निद्रा मे दिन मे चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकाक्षा का एकत्रीकरण हो जाय, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा (**स्त्यानासघातीभूता गृद्धिर्दिनचिन्तितार्थ साधन विषयाऽभिकाक्षा यस्यां सा स्त्यानगृद्धि**) कहते हैं।

प्राकृत भाषा मे स्त्यानगृद्धि के स्थान पर 'थीणद्धि' यह निपात हो जाता है।

यदि वज्रऋषभनाराच सहनन वाले जीव को स्त्यानगृद्धि निद्रा का उदय हो तो उसमे वासुदेव के आधे वल के वरावर वल हो जाता है। इस निद्रा वाला जीव मरने पर नरक मे जाता है।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप मे दो प्रकार का है। दर्शनावरण की नौ प्रकृतियो मे से चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण देशघाती है और शेष रही छह प्रकृतिया सर्वघाती है। सर्वघाती प्रकृतियो मे केवलदर्शनावरण मुख्य है।

इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ भेदो का कथन हो जाने के अनन्तर अव वेदनीय कर्म का वर्णन करते हैं।

वेदनीय कर्म का स्वरूप

वेदनीय—जो कर्म इन्द्रियो के विषयो का अनुभवन, अर्थात् वेदन करावे, उसे वेदनीय कर्म कहते है। इसका स्वभाव तलवार की शहद लगी धार को चाटने के समान है। इस कर्म के उदय से जीव विषयजन्य ऐन्द्रियिक सुख-दु ख का अनुभव करता रहता है।

वेदनीय कर्म के दो भेद है—सातावेदनीय, असातावेदनीय।[1] तलवार की धार मे लगे हुए शहद को चाँटने के समान साता वेदनीय है और शहद चाँटते समय उस धार से जीभ कटने के समान असातावेदनीय है।

सातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रिय विषय सम्वन्धी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीय कर्म कहते है।

असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयो की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयो की प्राप्ति मे दु ख का अनुभव होता है, उसे असातावेदनीय कर्म कहते है।

---

१ (क) सायावेअणिज्जे य आसायावेअणिज्जे।

—प्रज्ञापना, पद २३, उ० २, सू० २९३

(ख) वेयणीय पि य दुविह सायमसाय च अहिय।

—उत्तराध्ययन, अ० ३३, गा० ७

(ग) सदसद्वेद्ये। —तत्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र ८

वेदनीय कर्म द्वारा आत्मा को जो सुख-दु.ख का अनुभव होता है, वह इन्द्रिय विषयजन्य सुख-दु·ख ग्रहण करना चाहिए । आत्मा को जो स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है, वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं होती है । वेदनीयकर्म-जन्य सुख-दु.ख की अनुभूति क्षणिक होती है। गाथा मे वेदनीय कर्म के लिए मधुलिप्त तलवार की धार का दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिकसुख दु ख से मिला हुआ ही है । उसमे निराकुलता नही होती है । परिणाम कटुक होते हैं, जो ससार वढ़ाने के कारण हैं ।

दर्शनावरण व वेदनीयकर्म के भेदो को कहने के वाद अव आगे की गाथा मे चार गतियो मे वेदनीय कर्म का स्वरूप वतलाते हुए मोहनीय कर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते है ।

ओसन्न सुरमणुए सायमसाय तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीय दुविहं दसणचरणमोहा ॥१३॥

गाथार्थ—देव और मनुष्य गति मे प्राय. सातावेदनीय कर्म का और तिर्यंच एव नरक गति मे असातावेदनीय कर्म का उदय होता है । मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य के समान है और दर्शनमोहनीय एव चारित्रमोहनीय की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है ।

विशेषार्थ—चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण करने वाले जीव वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयजन्य सुख-दु.ख का अनुभव करते रहते हैं। वे न तो एकान्त रूप से सुख-ही-सुख का और न दु ख-ही-दु ख का वेदन करते हैं । उनका सुख, दु ख से मिश्रित होता है और सुख के वाद दु.ख एव दु ख के अनन्तर सुख का क्रम चलता रहता है । फिर भी किन गतियो मे सातावेदनीय का और किन गतियो मे असातावेदनीय का

विशेष रूप से उदय होने का कथन गाथा के पूर्वार्द्ध मे किया गया है कि देवो और मनुष्यो को प्राय सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है। यहाँ प्राय शब्द से यह सूचित किया गया है कि उनके साता-वेदनीय के अलावा असातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है। चाहे वह उदय अल्पाश मे ही हो, परन्तु उसकी सभावना है।

जैसे बहुत से देवो के देवगति से च्युत होने के समय अपनी ऋद्धि की अपेक्षा अन्य देवो की विशाल ऋद्धि को देखने से ईर्ष्या, मात्सर्य आदि का प्रादुर्भाव होता है, तब तथा अन्यान्य अवसरो पर भी असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्यो के बारे मे समझ लेना चाहिए अथवा गर्भावस्था मे एव स्त्री, पुत्र आदि प्रियजनो के वियोग, धन-सपत्ति के नाश आदि कारणो से भी उनको दु ख हुआ करता है।

तिर्यंचो और नारक जीवो को प्राय असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ करता है। यहाँ प्राय शब्द से यह सूचित किया गया है कि उन्हे सातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है, किन्तु ऐसे अवसर कम ही होते है। जैसे तिर्यंचो मे किन्ही-किन्ही हाथी, घोड़े, कुत्ते, आदि जीवो का बड़े लाड-प्यार से लालन-पालन किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवो मे भी तीर्थङ्करो के जन्म आदि कल्याणको के समय कुछ सुख का अनुभव हुआ करता है।

देवो मे सासारिक सुखो का विशेष अनुभव होता है और मनुष्यो को उनसे कम। इसी प्रकार निगोदिया जीवो और नारको मे दु ख का विशेष अनुभव होता है और उनकी अपेक्षा अन्य तिर्यंच जीवो को कम अनुभव होता है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म का विवेचन हो जाने के अनन्तर क्रम-प्राप्त मोहनीय कर्म का वर्णन करते हैं।

मोहनीय कर्म का स्वरूप

मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य (शराव) के समान है। जैसे मद्य के नशे मे मनुष्य अपने हिताहित का भान भूल जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव मे अपने स्वरूप एव हिताहित को पहचानने और परखने की बुद्धि नही होती है। कदाचित् अपने हिताहित को परखने की बुद्धि भी आ जाए तो भी तदनुसार आचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त नही कर पाता है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—

(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय।[1]

दर्शनमोहनीय—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थ-श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इसको घात करने वाले—आवृत करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा समझना चाहिए। सामान्य उपयोग रूप दर्शन को ग्रहण नही करना चाहिए। वह इस दर्शन से भिन्न है।

चारित्रमोहनीय—आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमे रमण करना चारित्र है। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चारित्र गुण को घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते है।

---

१. (क) मोहणिज्जे ण भते ! कम्मे कतिविघे पणत्ते ? गोयमा दुविहे पणत्ते, त जहा दसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य।

—प्रज्ञापना, कर्मबघ पद २३, उ० २

(ख) मोहणिज्ज पि दुविह दसणे चरणे तहा।

—उत्तराध्ययन अ० ३३, गा० ८

इस प्रकार सामान्य से मोहनीय कर्म के भेद बतलाने के अनन्तर आगे की गाथा मे दर्शनमोहनीय का विशेष कथन करते है।

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्ध अद्धविसुद्ध अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

गाथार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनो प्रकारो मे क्रमश सम्यक्त्वमोहनीय शुद्ध, मिश्रमोहनीय अर्द्धशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय अशुद्ध होता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकर्म वन्ध की अपेक्षा मिथ्यात्वरूप ही है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा से आत्मपरिणामो के द्वारा उसके सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय) और मिथ्यात्वमोहनीय ये तीन भेद हो जाते है।[1]

इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

सम्यक्त्वमोहनीय—जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्वरुचि का प्रतिवन्ध करता है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते है। यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व मे व्याघात नही पहुँचाता, परन्तु आत्म-स्वभाव रूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नही हो पाता है और सूक्ष्म पदार्थो के विचारने मे शका हुआ करती है, जिससे सम्यक्त्व मे मलीनता आ जाती है।

---

१ (क) दसणमोहणिज्जे ण भत्ते कम्मे कतिविवे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, त जहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे। —प्रज्ञापना, कर्मबंध, पद २३, सू० २

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३२, गाथा ६

मिश्रमोहनीय—इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्रमोहनीय कहते है। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वो के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वो के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खटमिट्ठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए।

मिथ्यात्वमोहनीय—जिसके उदय से जीव को तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। सन्मार्ग से विमुख रहता है, जीव, अजीव आदि तत्त्वो के ऊपर श्रद्धा नही करता है और अपने हित-अहित का विचार करने मे असमर्थ रहता है। हित मे अहितबुद्धि और अहित मे हितबुद्धि होती है, अर्थात् हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल सर्वघाती रस वाले होते हैं। उस रस के एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु स्थानक—ये चार प्रकार होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण यह है कि जो रस सहज अर्थात् स्वाभाविक है, उसे एकस्थानक कहते हैं। उसी रस के स्वाद मे तीव्रता लाने के लिए अग्नि द्वारा तपाकर उसका आधा भाग जला दिया जाय तो शेष रहे आधे भाग को द्विस्थानक कहेगे। इसी प्रकार दो भाग जला दिये जाये और एक भाग शेष रहे तो उसे त्रिस्थानक और तीन भाग जलाकर सिर्फ एक भाग रखा जाय तो उसे चतु.-स्थानक कहते हैं। जनसाधारण की भाषा मे चतु स्थानक को चौथाई, त्रिस्थानक को तिहाई और द्विस्थानक को आधा भाग और जो स्वाभाविक है, उसे एकस्थानक कह सकते है। जैसे—नीम या ईख का एक-

एक किलो रस लिया जाय तो उन-उन के मूल रस को एकस्थानक कहेगे। लेकिन जव इस एक किलो रस को अग्नि से तपाकर आधा कर लिया जाय तो द्विस्थानक और दो भाग कम करके एक भाग शेप रखे तो त्रिस्थानक और जव एक चतुर्थांश भाग ही शेष रखा जाए तो चतु स्थानक कहेगे।

इस प्रकार शुभ-अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतु स्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मद शक्ति को एकस्थानक समझना चाहिए। इनमे से द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु स्थानक रस सर्वघाती हैं और मिथ्यात्व मोहनीय मे चतु स्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक—ये तीनों प्रकार की सर्वघाती रस-शक्ति होती है। मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय) मे द्विस्थानक रस-शक्ति होती है और सम्यक्त्वमोहनीय मे एकस्थानक रसशक्ति होती है।

जैसे कोद्रव (कोदो-एक प्रकार का अन्न) के खाने से नशा होता है, परन्तु जव उन कोदो का छिलका निकाल दिया जाय और छाछ आदि से धोकर शोध लिया जाए तो उसमे मादक शक्ति वहुत न्यून रह जाती है। इसी प्रकार कोदो के समान हिताहित की परीक्षा करने मे जीव को विफल वनाने वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल होते है। उनमे सर्वघाती रस होता है लेकिन जव जीव अपने विशुद्ध परिणामो के वल से उन कर्मपुद्गलो की सर्वघाती रस-शक्ति को घटा देता है और सिर्फ एकस्थानक शेप रह जाता है, तव इस एकस्थानक शक्ति वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलो को सम्यक्त्वमोहनीय कहा जाता है और कुछ भाग शुद्ध एव कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदो के समान मिश्रमोहनीय के कर्मपुद्गलो को समझना चाहिए। इन कर्मपुद्गलो मे

द्विस्थानक रस होता है। इन तीनो प्रकारो मे मिथ्यात्वमोहनीय सर्वघाती है और शेष दो—सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय देशघाती हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के दो भेदो मे से दर्शनमोहनीय के तीन प्रकारो को वतलाकर अव आगे की गाथा मे उन तीनो मे से सम्यक्त्वमोहनीय का स्वरूप कहते है।

जियअजिय पुण्णपावासव सवरबन्धमुक्खनिज्जरणा।
जेण सद्दहइयं तयं सम्मं खइगाइवहुसेयं ॥ १५ ॥

गाथार्थ—जिस कर्म से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, वध, मोक्ष और निर्जरा इन नवतत्त्वो पर जीव श्रद्धा करता है, वह सम्यक्त्वमोहनीय है। उसके क्षायिक आदि वहुत-से भेद होते हैं।

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि नव तत्त्वो पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। ऐसा कहने मे अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चश्मा आँखो का आच्छादक होने पर भी देखने मे रुकावट नही डालता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आवरण रूप होने पर भी आत्मा को तत्त्वार्थ-श्रद्धान करने मे व्याघात नही पहुँचाता है।

नवतत्त्व

नव तत्त्वो के नाम ये हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध, मोक्ष और।[1] जिनके सक्षेप मे लक्षण इस प्रकार हैं—

---

१ नव सव्भाव पयत्था पण्णत्ते, त जहा—जीवा अजीवा पुण्ण पावो आसवो सवरो निज्जरा वधो मोक्खो। —स्थानाग, स्थान ९, सूत्र ६६५

जीव—जो प्राणो को धारण करे उसे जीव कहते हैं। प्राण के दो भेद है—द्रव्यप्राण, और भावप्राण। इनमे से द्रव्यप्राण के पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), तीन वल (काय, वचन, मन), आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस भेद है। ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणो को भावप्राण कहते हैं।

जीव के दो भेद है—(१) मुक्तजीव और (२) ससारीजीव।

मुक्तजीव—सपूर्ण कर्मो का क्षय करके जो अपने ज्ञान-दर्शन आदि भावप्राणो से युक्त है, उन्हे मुक्तजीव कहते है।

ससारी जीव—जो अपने यथायोग्य द्रव्य-प्राणो और ज्ञानादि भाव-प्राणो से युक्त होकर नरकादि चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण करते रहते है, उन्हे ससारी जीव कहते हैं। जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं।

अजीव—जिसमे प्राण न हो, अर्थात् जड हो, उसे अजीव कहते है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल—ये अजीव हैं। इनमे से पुद्गलास्तिकाय रूपी, अर्थात् रूप, रस, गध और स्पर्श वाले हैं और शेष चारो अरूपी हैं, अर्थात् रूपादि गुणो से रहित हैं। अजीव तत्त्व के चौदह भेद है।

पुण्य—जिसके उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य के दो भेद हैं—(१) द्रव्य-पुण्य और (२) भाव-पुण्य। जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे द्रव्यपुण्य और जीव के दया, करुणा, दान, भावना आदि शुभ परिणामो को भावपुण्य कहते है। पुण्य शुभ प्रकृति रूप है और शुभ योग से बँधता है। पुण्यप्रकृति के बयालीस भेद है।

पाप—जिसके उदय से दु ख की प्राप्ति हो, आत्मा को शुभ कार्यो से पृथक् रखे, उसे पाप कहते है। इसके दो भेद हैं। द्रव्यपाप, भाव-

पाप। जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करता है वह द्रव्य-पाप है और जीव के अशुभ परिणाम को भावपाप कहते हैं। पाप अशुभ प्रकृति रूप है और अशुभ योगों से बँधता है। पापप्रकृति के बयासी भेद हैं।

आस्रव—शुभाशुभ कर्मो के आगमन द्वार को आस्रव कहते है। आस्रव के दो भेद हैं—द्रव्यास्रव, भावास्रव। शुभ-अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ-अशुभ परिणामो से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियो को द्रव्यास्रव और कर्मों के आने के द्वार रूप जीव के शुभ-अशुभ परिणामो को भावास्रव कहते हैं। आस्रव तत्त्व के बयालीस भेद हैं।

सवर—आस्रव के निरोध को सवर कहते हैं। आस्रव के ब्यालीस भेद हैं। उनका जितने-जितने अशो मे निरोध होगा, उतने-उतने अशो मे सवर कहलायेगा। यह सवर (आस्रव का निरोध) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र आदि से होता है।[1] सवर के दो भेद हैं–भावसवर और द्रव्यसवर। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भावसवर और कर्मपुद्गलो के आगमन के रुक जाने को द्रव्यसंवर कहते हैं। सवर के सत्तावन भेद हैं।

निर्जरा—आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस मे मिले हुए कर्मपुद्गलो के एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो प्रकार हैं—१ द्रव्यनिर्जरा, २. भावनिर्जरा। आत्मप्रदेशो से कर्मो

---

१ पचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो हवइ अणासवो॥

—उत्तराध्ययन, ३।३०

का एकदेश पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावनिर्जरा कहते है। निर्जरा के वारह भेद है।

बध—आस्रव द्वारा आये हुए कर्म पुद्गलो का आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस मे मिलना बध कहलाता है। राग-द्वेष आदि कषायो और योग प्रवृत्ति के द्वारा ससारी जीव कर्मयोग्य पुद्गलो को ग्रहण करता रहता है।[1] यह क्रम अनादि से चालू है कि राग, द्वेष, कषाय आदि के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है और उन कर्मपुद्गलो के सम्वन्ध से कषायवान होता है। योग और कषाय कर्मबध के कारण है। बध के दो प्रकार हैं—भावबध और द्रव्यबध। आत्मा के जिन परिमाणो से कर्मबध होता है अथवा कर्मबध मे उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणामो को भावबध कहते हैं और कर्मपुद्गलो का जीव प्रदेशो के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस मे मिलना द्रव्यबध कहलाता है। बध के चार भेद है।

मोक्ष—सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते है। मोक्ष के दो प्रकार है—द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। सपूर्ण कर्मपुद्गलो का आत्म-प्रदेशो से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्षजनक अथवा द्रव्यमोक्षजन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामो को भावमोक्ष कहा जाता है। मोक्ष के नौ एव पन्द्रह भेद हैं।[2]

उक्त नवतत्त्वो मे से जीव, अजीव और बध ज्ञेय है। पुण्य, पाप और आस्रव हेय है और सवर, निर्जरा एव मोक्ष उपादेय हैं।

---

१ परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय, णाणावरणादिभावेहि॥ प्रव० स०

२. नव तत्त्व का विशेष वर्णन देवेन्द्रसूरिरचित स्वोपज्ञटीका गाथा १५, पृष्ठ ३० स ३२ मे देखिए।

किन्ही-किन्ही ग्रंथो मे पुण्य और पाप—इन दोनो तत्त्वो का आस्रव या बंध तत्त्व मे समावेश करके सिर्फ सात तत्त्व कहे हैं। अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए कि पुण्य-पाप—दोनो द्रव्य-भाव के रूप से दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्य रूप पुण्य और पाप बंधतत्त्व मे अन्तर्भूत है। क्योकि आत्मसंबद्ध द्रव्य कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गलो का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्य बंधतत्त्व कहलाता है। इसी प्रकार द्रव्यपुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप कहलाता है, दोनो बंधतत्त्व मे अन्तर्भूत हैं, क्योकि बंध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय परिणाम ही भावबंध कहलाता है। आस्रव-तत्त्व मे गर्भित करने के लिए भी शुभाशुभ परिणामो और उनसे आने वाले शुभाशुभ कर्मपुद्गलो के आने को आस्रव तत्त्व मे ग्रहण कर लेना चाहिए।

सम्यक्त्व के भेद

पूर्वोक्त जीवादि नव तत्त्वो के श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते है। सम्यक्त्व के कई भेद है। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) व्यवहार सम्यक्त्व और (२) निश्चय सम्यक्त्व। किसी अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, सास्वादन सम्यक्त्व, दीपक सम्यक्त्व इत्यादि भेद होते हैं। सक्षेप मे इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

व्यवहार सम्यक्त्व—कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग को स्वीकार करना, उनकी श्रद्धा करना व्यवहार-सम्यक्त्व कहलाता है।

निश्चयसम्यक्त्व—जीवादि तत्त्वो का यथारूप से श्रद्धान करना निश्चयसम्यक्त्व है।[1] यह आत्मा का वह परिणाम है, जिसके होने पर ज्ञान विशुद्ध होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय—दर्शन मोहनीय की इन तीन प्रकृतियो के क्षय होने पर आत्मा मे जो परिणाम-विशेष होता है, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय की पूर्वोक्त तीन प्रकृतियो के उपशम से आत्मा मे जो परिणाम होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा मे होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

उदय मे आये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलो का क्षय तथा जो उदय को प्राप्त नही हुए, उन पुद्गलो का उपशम इस प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षयोपशम होता है। यहाँ जो मिथ्यात्व का उदय कहा गया है, वह प्रदेशोदय की अपेक्षा समझना चाहिए, रसोदय की अपेक्षा नही। औपशमिक सम्यक्त्व मे मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनो प्रकार का उदय नही होता है और प्रदेशोदय को ही उदयाभावी क्षय कहते है। जिसके उदय से आत्मा पर कुछ असर नही होता, वह प्रदेशोदय तथा जिसका उदय आत्मा पर प्रभाव डालता है, वह रसोदय है।

---

१ (क) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू०२

(ख) भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपाव य।
आसवसवरणिज्जरबधो मोक्खो य सम्मत्त॥ —समयसार १३

मिथ्यात्व के दस भेद[1]—

(१) साधु को साधु न समझना ।

(२) असाधु को साधु समझना ।

(३) अहिंसामूलक धर्म को धर्म नहीं मानना ।

(४) हिंसा, झूठ आदि अधर्म—पापमूलक कार्यों को धर्म मानना। जिन कृत्यो या विचारो से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है ।

(५) अजीव को जीव समझना ।

(६) जीव को अजीव समझना-मानना । जैसे गाय, पक्षी, जल वनस्पति आदि मूक प्राणियो मे आत्मा नही है ।

(७) कुमार्ग को सन्मार्ग समझना । अर्थात् आत्मा को संसार मे परिभ्रमण करानेवाले कारणो को अच्छा मानना । केवलीप्ररूपित मार्ग से विपरीत प्ररूपणा सही मानना ।

(८) सुमार्ग को उन्मार्ग समझना, अर्थात् मोक्ष के कारणो को ससारबध के कारण कहना ।

(९) कर्मरहित को कर्मसहित मानना। जैसे परमात्मा निष्कर्म है, किन्तु उन्हे भक्तो की रक्षा और दैत्यो का नाश करने वाला कहना ।

(१०) कर्मसहित को कर्मरहित मानना । भक्तो की रक्षा और दैत्यो

---

१ दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, त जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा । —स्थानाग १०, सूत्र, ७३४

का नाश करना राग-द्वेष के सिवाय नही हो सकता, तथापि उन्हे कर्मो से रहित मानना , "भगवान सव कुछ करते हुए भी अलिप्त है" ऐसा कथन करना ।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय के तीनों भेदो का कथन करने के अनन्तर अब आगे की गाथा मे चारित्रमोहनीय कर्म के भेदो का वर्णन करते है ।

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं ।
अण अप्पचच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ।।१७।।

गाथार्य—चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—कषाय-मोहनीय और नोकषाय मोहनीय । उनमे से कषाय-मोहनीय के सोलह और नोकषाय-मोहनीय के नौ भेद होते हैं । अनन्तानुवधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन इनके चार-चार भेद होने से कषायो के सोलह भेद होते हैं ।

विशेषार्थ— चारित्रमोहनीय के मुख्य रूप से कषाय और नोकषाय ये दो भेद होते हैं ।[1] इनके लक्षण, भेद आदि को क्रमश निम्न प्रकार समझना चाहिए ।

कषाय—जो आत्मा के गुणो को कषे (नष्ट करे) । अथवा कष का अर्थ है जन्म-मरण-रूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे

---

१ (क) चरित्तमोहण कम्म दुविह तु वियाहिय ।
कसाय मोहणिज्ज तु नोकसाय तहेव य ॥
—उत्तरा० अ० ३३, गा १०
(ख) प्रज्ञापना०, कर्मवध पद २३, उ०, २

वेदकसम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे विद्यमान जीव जब सम्यक्त्व मोहनीय के अतिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते है। वेदकसम्यक्त्व के बाद जीव को क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

सास्वादनसम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता, तब तक के उसके परिणामविशेष को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादन को सासादन भी कहते हैं।

कारकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओ—सामायिक, प्रतिक्रमण, गुरुवदन आदि को करना कारकसम्यक्त्व है।

रोचकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओ मे रुचि रखने को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओ से होने वाले लाभो का समर्थन, प्रसार करना, दीपकसम्यक्त्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के अन्य भेदो के लक्षण समझ लेने चाहिए।

इस प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय का कथन हो जाने के अनन्तर आगे की गाथा मे दर्शनमोहनीय के शेष भेदो—मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय के स्वरूप को कहते है।

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहजहा अन्ने।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६॥

गाथार्थ—जैसे नालिकेर द्वीप मे उत्पन्न मनुष्य को अन्न पर राग-द्वेष नही होता है, वैसे ही मिश्रमोहनीय कर्म के कारण

जिनधर्म पर भी राग-द्वेष नही होता है। इसका समय अन्त-मुँहूर्त मात्र है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जीव जिनोक्त धर्म से विपरीत श्रद्धान करने वाला होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे मिश्रमोहनीय (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोहनीय) और मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के परिणामो व उनके स्वरूप को वतलाया गया है।

जैसे नालिकेर द्वीप (जहाँ नारियल के सिवाय दूसरे खाद्यान्न पैदा नही होते हैं) मे उत्पन्न मनुष्य ने अन्न के विषय मे कुछ न सुना हो और न देखा हो तो उसे अन्न के वारे मे न तो रुचि-राग होता है और न अरुचि-द्वेष होता है, किन्तु तटस्थ रहता है। इसी प्रकार जब मिश्र-मोहनीय कर्म का उदय होता है, तब जीव के वीतरागप्ररूपित धर्म पर रुचि-अरुचि (राग-द्वेष) नही होती है। अर्थात् वीतराग ने जो कुछ कहा है, वह सत्य हैं, ऐसी दृढ श्रद्धा नही होती है और वह असत्य है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचि रूप द्वेष भी नही होता है। वीतरागी और सरागी एव उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है। मिश्रमोहनीय का उदयकाल अन्तमुँहूर्त है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि तत्त्वो के स्वरूप, लक्षण और जिन-प्ररूपित धर्म के प्रति श्रद्धा नही होती है। जैसे रोगी को पथ्य चीजे अच्छी नही लगती हैं और कुपथ्य चीजे अच्छी लगती है, वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से वीतराग प्ररूपित धर्म-सिद्धान्तो पर द्वेष और उससे विपरीत सिद्धान्तो पर राग होता है।

हो उसे कषाय कहते है।[1] कपायमोहनीय के सोलह भेद होते हैं, जिनका सक्षेप मे निरूपण करते हैं।

मूल रूप मे कपाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद है। इन चारो के लक्षण इस प्रकार हैं—

क्रोध—समभाव को भूलकर आक्रोश से भर जाना। दूसरे पर रोष करना क्रोध है।

मान—गर्व, अभिमान, झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते है।

माया—कपट भाव, अर्थात् विचार और प्रवृत्ति मे एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

लोभ—ममता-परिणामो को लोभ कहते हैं।

इन कषायो के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मद स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो जाते हैं, जो क्रमश· अनन्तानुबधी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) तथा सज्वलन (मद स्थिति) के नाम से कहे जाते है। इनके लक्षण ये है—

अनन्तानुवंधी—जो जीव के सम्यक्त्व गुणो का घात करके अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुवधी कहते हैं।[2]

---

१ कम्म कमो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कममाययति व जतो गमयति कस कसायत्ति॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२२७

२ अनन्तानुवधी-सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

अप्रत्याख्यानावरण—जो कपाय आत्मा के देशविरतिगुण-चारित्र (श्रावकपन) का घात करे, अर्थात् जिसके उदय से देशविरति आशिक त्यागरूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके, उस कषाय को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के प्रभाव से श्रावकधर्म की प्राप्ति नही होती है।[1]

प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने मे वाधा हो, अर्थात् श्रमण (साधु) धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते है। इस कषाय के उदय होने पर एक देश त्याग रूप श्रावकाचार के पालन करने मे तो वाधा नही आती है, किन्तु सर्वत्याग–साधुधर्म का पालन नही हो जाता है।[2]

सज्वलन—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात-चारित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय परिषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म के पालन करने को प्रभावित करे, असर डाले, उसे सज्वलन कहते है। यह कषाय सर्वविरित चारित्र पालन करने मे वाधा डालती है।[3]

उक्त अनन्तानुबधी आदि चारो प्रकारो के साथ कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार मूल भेदो को जोडने से कषाय-मोहनीय के सोलह भेद निम्न प्रकार से हो जाते हैं—

---

१ अप्रत्याख्यानकपायोदयद्विरतिर्न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

२ प्रत्याख्यानावरणकपायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तम चारित्रलाभस्तु न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

३ सज्वलनकपायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति। तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

अनन्तानुवन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।

सज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।[१]

उक्त चारो प्रकार की चार-चार कषायो को सक्षेप मे कहने के लिए 'चतुष्क' या 'चौकडी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे अनन्तानुवधी चतुष्क या अनन्तानुवधी चौकडी कहने से अनन्तानुवधी क्रोध, अनन्तानुवधी मान, अनन्तानुवधी माया, अनन्तानुवधी लोभ का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन चतुष्क के लिए भी समझ लेना चाहिए।

कषायो के भेदो का कथन करने के अनन्तर नोकषाय-मोहनीय के स्वरूप का कथन करते हैं।

नोकषाय—जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायो को पैदा करने मे, उत्तेजित करने मे सहायक हो, उसे नोकषाय कहते है। हास्य, रति आदि नोकषाय के प्रकार है, जिनका कथन यथाप्रसग किया जा रहा है। इस विपय का एक श्लोक इस प्रकार है—

कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

---

१ कसायवेदणिज्जे ण भते! कतिविधे पण्णत्ते?
गोयमा! सोलसविधे पण्णत्ते, त जहा—अणताणुबधी कोहे, अणताणुवधी माणे, अ० माया, लोभे, अपच्चक्खाणे कोहे एव माणे, माया, लोभे, पच्चक्खणावरणे कोहे एव माणे, माया, लोभे, संजलणा कोहे एव माणे माया_लोभे। —प्रज्ञापना कर्मबधपद २३, उ० २

कषायो के सहवर्ती होने से और कपायो के सहयोग से पैदा होने से एव कपायो को उत्पन्न कराने मे प्रेरक होने से हास्यादि नोकषायो का अन्यकपायो के साथ सम्बन्ध समझ लेना चाहिए। अर्थात् नोकषायो को कषायरूप प्राप्त करने मे कषायो का सहकार आवश्यक है और उनके ससर्ग से ही नोकपायो की अभिव्यक्ति होती है। वैसे वे निष्क्रिय-सी है। केवल नोकपाय प्रधान नही है।

इस प्रकार चारित्रमोहनीय के कषाय और नोकषाय मोहनीय इन दो भेदो और उन दोनो भेदो के उत्तर भेदो की सख्या आदि का सक्षेप मे सकेत किये जाने के अनन्तर आगे की गाथा मे कषाय-मोहनीय के अनन्तानुवधी आदि चारो प्रकारो के सम्बन्ध मे विशेष वर्णन करते है।

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त अनन्तानुवधी आदि चारो प्रकार की कषायो की कालमर्यादा क्रमश जीवनपर्यन्त, एक वर्ष, चार मास एव पन्द्रह दिन (एक पक्ष) की है और वे क्रमश नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देवगति की बध की कारण है तथा सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यातचारित्र का क्रमश घात करती है।

विशेषार्थ—गाथा मे अनन्तानुबधी आदि कषाय मोहनीय के चारो प्रकारो की काल मर्यादा, उनसे बधने वाली गतियो एव आत्मा के घात होने वाले गुणो का नाम-निर्देश किया गया है। विशेष स्पष्टीकरण क्रमश इस प्रकार है—

अनन्तानुर्वधी कषाय जीवनपर्यन्त रहती है, अर्थात् यह कषाय जन्मजन्मान्तर तक भी विद्यमान रहती है। इसके सद्भाव मे नरक गति के योग्य कर्मो का बध होता है और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करने वाली है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय की कालमर्यादा एक वर्प है और इसके उदय से तिर्यंचगति का वध होता है। इसके कारण जीव देशविरति (श्रावकचारित्र) को ग्रहण करने मे असमर्थ रहता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय की मर्यादा चार माह है। इसके उदय से जीव के मनुष्यगति के योग्य कर्मो का वध होता है और यह जीव के सर्वविरति (श्रमणधर्म) चारित्र का घात करती है, अर्थात् सर्व-विरति चारित्र नही हो पाता है।

सज्वलन कषाय की कालमर्यादा एक पक्ष की है। इस प्रकार की कषायो की स्थिति मे जीव को देवगति के योग्य कर्मो का बध होता हैं तथा यथाख्यातचारित्र नही हो पाता है।

अनन्तानुबधी आदि कषायो की समयमर्यादा विपयक पूर्वोक्त सकेत व्यवहार नय की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योकि बाहुबलि आदि को सज्वलन कषाय एक वर्ष तक रही और प्रसन्नचन्द राजर्षि को अनन्तानुबधी कषाय का उदय एक अन्तमुंहूर्त तक के लिए ही हुआ। इसी प्रकार अनन्तानुबधी कपाय का उदय रहते हुए भी कुछ मिथ्यादृष्टियो के नवग्रैवेयको मे उत्पन्न होने का वर्णन देखने को मिलता है।

इस प्रकार अनन्तानुबधी आदि कषायो के चार प्रकारो की कालमर्यादा आदि वतलाने के अनन्तर उनका दृष्टान्त के द्वारा विशेष स्वरूप का कथन करते है।

जलरेणु पुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥
मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

गाथार्थ—क्रोध—जल, रेणु, पृथ्वी और पर्वतराजि के समान, मान—वेत्रलता, काष्ठ, अस्थि और शैल—पत्थर—स्तम्भ के समान, माया—अवलेखिका गोमूत्रिका, भेड के सीग, घनवशी के मूल के समान और लोभ—हरिद्रारग, दीपक के काजल के रग, कीचड के रग एव किरमिची रग के समान चार-चार प्रकार समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे अनन्तानुबधी आदि चारो प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त आत्मा के परिणामो को दृष्टान्तो के द्वारा समझाया गया है । इनमे क्रमश पहले से सज्वलन, दूसरे से प्रत्याख्यानावरण, तीसरे से अप्रत्याख्यानावरण और चौथे से अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के प्रतीको को गिनाया है, जैसे—

सज्वलन क्रोध जल मे खीची गई रेखा सदृश, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलि मे खीची गई रेखा सदृश, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी मे खीची गई रेखा के समान और अनन्तानुबधी क्रोध पर्वत मे आई दरार के समान होता है । इसी प्रकार सज्वलन आदि के मान, माया, लोभ के लिए दृष्टान्त के प्रतीको का क्रमश सम्बन्ध जोड लेना चाहिए । जिनका विवेचन अग्रिम पृष्ठो पर अकित है—

सज्वलन क्रोध—जल मे खीची जाने वाली रेखा के समान यह क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है ।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध—जैसे धूलि मे खीची गई रेखा हवा के द्वारा कुछ समय मे भर जाती है वैसे ही इस प्रकार का क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो जाता है ।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—सूखी मिट्टी मे आई दरार जैसे पानी के सयोग से फिर भर जाती हैं, वैसे ही इस प्रकार के क्रोध की शान्ति कुछ परिश्रम और प्रयत्न द्वारा हो जाती है ।

अनन्तानुबंधी क्रोध—पर्वत के फटने से आई दरार कभी नही जुडती, इसी प्रकार यह क्रोध परिश्रम और उपाय करने पर भी शान्त नही होता है ।

संज्वलन मान—विना परिश्रम के नमाये जाने वाले बेत के समान क्षणमात्र मे अपने आग्रह को छोडकर नमने वाला होता है ।

प्रत्याख्यानावरण मान—सूखे काष्ठ मे तेल आदि की मालिश करने पर नरमाई आने की सभावना हो सकती है । इसी प्रकार यह मान कुछ परिश्रम और उपाय से दूर होने वाला होता है ।

अप्रत्याख्यानावरण मान—जैसे हड्डी को नमाने के लिए कठिन परिश्रम के सिवाय उपाय भी करना पडता है, वैसे ही यह मान अति परिश्रम और उपाय से दूर होता है ।

अनन्तानुबंधी मान—जैसे कठिन परिश्रम से पत्थर के खम्भे को नमाना असभव है, वैसे ही यह मान भी दूर नही होता है ।

सज्वलन माया—बाँस के छिलके मे रहने वाला टेढापन विना श्रम के सीधा हो जाता है, उसी प्रकार यह मायाभाव सरलता से दूर हो जाता है ।

प्रत्याख्यानावरण माया—चलते हुए मूतने वाले बैल की मूत्ररेखा की वक्रता के समान कुटिल परिणाम वाली होती है। यह कुटिल स्वभाव कठिनाई से दूर होता है।

अप्रत्याख्यानावरण माया—भेड के सीगो मे रहने वाली वक्रता कठिन परिश्रम व अनेक उपाय द्वारा दूर होती है। इसी प्रकार के परिणाम वाली माया को अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते हैं। यह मायापरिणाम अति परिश्रम व उपाय से सरल होते हैं।

अनन्तानुबधी माया—वास की जड मे रहने वाली वक्रता–टेढेपन का सीधा होना सभव नही है। इसी प्रकार अनन्तानुबधी माया के परिणाम होते है।

संज्वलन लोभ—सहज ही छूटने वाले हल्दी के रग के समान इस लोभ के परिणाम होते है।

प्रत्याख्यानावरण लोभ—काजल के रग के समान इस लोभ के परिणाम कुछ प्रयत्न से छूटते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण लोभ—गाडी के पहिये की कीचड़ के समान अति कठिनता से छूटने वाले परिणाम वाला होता है।

अनन्तानुवधी लोभ—जैसे किरमिची रग किसी भी उपाय से नही छूटता है, वैसे ही इस प्रकार के लोभ के परिणाम उपाय करने पर भी नही छूटते हैं।

इस प्रकार कपायमोहनीय के भेदो का निरूपण करने के अनन्तर आगे दो गाथाओ मे नोकषायमोहनीय के भेदो का वर्णन करते है।

जन्य भय होता है), (५) आजीविका भय, (६) मृत्यु भय, और (७) अपयश भय।[1]

जुगुप्सा[2]—जिस कर्म के उदय से कारण या विना कारण के ही वीभत्स–घृणाजनक पदार्थों को देखकर घृणा पैदा होती है, उसे जुगुप्सा-मोहनीय कर्म कहते है।

मैथुन सेवन करने की अभिलापा को वेद कहते है। मैथुनेच्छा की पूर्ति के योग्य नाम कर्म के उदय से प्रगट वाह्य चिन्ह विशेष को द्रव्यवेद और तदनुरूप अभिलाषा को भाव-वेद कहते हैं। वेद के तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद। इनके लक्षण और भाव निम्न प्रकार है—

स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुप के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे स्त्रीवेद कहते है। इसकी अभिलाषा के भाव करीषाग्नि के समान होते है। करीष माने सूखा गोवर, उपला, कडा, छान, ठेपली। जैसे—उपले मे सुलगी हुई आग जैसे-जैसे जलाई जाए वैसे-वैसे वढती है, वैसे ही पुरुष के करस्पर्श आदि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा वढती है।

---

१ सत्त भयठाणा पण्णत्ता, त जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदाणाभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए।

—स्थानाग ७।५४९

२. कुच्छा का सस्कृत मे कुत्सा रूप वनता है। इसके घृणा और निन्दा अर्थ होते हैं। घृणा का आशय यहाँ स्पष्ट किया है। लेकिन जव निन्दा-रूप अर्थ लिया जाए तव अपने दोष छिपाने और दूसरे के दोप प्रकट करने रूप आशय समझ लेना चाहिए।

पुरुषवेद—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे पुरुषवेद कहते हैं। इस वेद वाले की अभिलाषा मे दृष्टान्त तृणाग्नि का दिया है। जैसे तृण की अग्नि शीघ्र जलती है और शीघ्र बुझती है, उसी प्रकार पुरुष की मैथुन की अभिलाषा शीघ्र उत्तेजित होकर शान्त हो जाती है।

नपुंसकवेद—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनो के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे नपुसकवेद कहते है। इसकी कामवासना के लिए नगरदाह का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे नगर मे आग लगे तो वह कई दिन तक नगर को जलाती है और उसको बुझाने मे बहुत दिन लगते हैं। इसी प्रकार नपुसकवेद के उदय से उत्पन्न अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नही होती और विषयसेवन से तृप्ति भी नही होती।

इस प्रकार नोकषायमोहनीय के नौ भेदो का कथन पूर्ण हुआ।[1] ये मुख्य कषायो की सहकारी और उद्दीपक होने से नोकषाय कहलाती है।

चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबधी क्रोधादि सोलह कषायो और नोकषाय मोहनीय के नौ भेदो मे से सज्वलनकषाय चतुष्क और नोकषाय के अतिरिक्त शेष बारह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३३, गाथा ११ मे 'सत्तविह णवविह वा कम्म च णोकसायज'—नोकषाय मोहनीय के सात या नौ भेदो का जो कथन है, उसका कारण यह है कि जब वेद के स्त्री, पुरुष और नपुसक वेद ये तीन भेद नही करके सामान्य से वेद को गिनते है तो हास्यादि छह और वेद ये सात भेद हो जाते है और वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद ये तीन भेद किए जाते हैं तो नौ भेद होते है। साधारणतया नोकपाय मोहनीय के नौ भेद प्रसिद्ध हैं। अत यहाँ भी नौ भेदो के नाम गिनाये गए हैं और विवेचन किया गया है।

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा[1] वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥
पुरिसित्थि तदुभय पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

गाथार्थ—जिस कर्म के उदय से कारणवश या विना कारण के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के भाव पैदा होते है, उन्हे क्रमश नोकषाय मोहनीय के हास्यादि जुगुप्सा पर्यन्त भेद समझना चाहिए। जिस कर्मके उदय से पुरुष, स्त्री और पुरुष-स्त्री दोनो से रमण करने की मैथुनेच्छा उत्पन्न होती है, उसे क्रमश स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद कहते हैं। इन तीनो वेदो के अभिलाषा-भाव क्रमश करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान होते है।

विशेषार्थ—कषायमोहनीय के सोलह भेदो का कथन करने के पश्चात् नोकषायमोहनीय के नौ भेदो का कथन इन दो गाथाओ मे किया गया है। नौ भेदो के नाम इस प्रकार हैं—

(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुपवेद और

---

१ 'सनिमित्तमन्नहा वा'—'सनिमित्त'—कारणवश और 'अन्न हा' विना कारण के—इन दोनो मे तात्कालिक वाह्य पदार्थ कारण हो तो सकारण और मात्र मानसिक विचार ही निमित्त हो तो—अकारण, विना कारण के, ऐसा आशय 'सनिमित्तमन्नहा' पद से विवक्षित किया गया है।

(९) नपुसकवेद ।[1] इन नामो के आगे 'मोहनीय कर्म' शब्द जोड लेना चाहिए। उक्त नौ भेदों के लक्षण इस प्रकार है—

हास्य—जिस कर्म के उदय से कारणवश, अर्थात् भॉड आदि की चेष्टा देखकर अथवा विना कारण के हसी आती है, उसे हास्यमोहनीय कर्म कहते हैं, अर्थात् हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

रति—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों मे राग-प्रेम हो, उसे रति-मोहनीय कर्म कहते हैं।

अरति—जिस कर्म के उदय से कारणवश या विना कारण के पदार्थों से अप्रीति—द्वेष होता है, उसे अरति-मोहनीय कर्म कहते हैं।

शोक—कारणवश या विना कारण ही जिस कर्म के उदय से शोक हो, उसे शोक-मोहनीय कर्म कहते है।

भय—जिस कर्म के उदय से कारणवशात् या विना कारण भय हो—डर पैदा हो, भयशीलता उत्पन्न हो, उसे भय-मोहनीय कर्म कहते है।

भय के सात प्रकार है—

(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय (चोर, डाकू आदि से भय होना), (४) अकस्मात भय (आकस्मिक दुर्घटना-

---

१ नोकसाय वेयणिज्जे ण भत्ते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविधे पण्णत्ते, त जहा-इत्थीवेय वेयणिज्जे पुरिसवे० नपुमगवे० हासे रती अरती भए सोगे दुगुछा। —प्रज्ञापना० कर्मबन्ध पद २३, उ० २

इस प्रकार मोहनीय कर्म का निरूपण करने के अनन्तर आयु और नाम कर्म के स्वरूप आदि का वर्णन करते हैं।

सुरनरतिरिनिरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक के भेद से आयुकर्म चार प्रकार का है और इसका स्वभाव हडि (खोड़ा, वेडी) के समान है। नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के सदृश है और उसके बयालीस, तिरानवै, एकसौ तीन और सड़सठ भेद होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे आयुकर्म और नामकर्म का स्वभाव तथा उन-उन कर्मो के अवान्तर भेदो की सख्या बतलाई है। उनमे से पहले आयुकर्म का वर्णन करते हैं।

आयुकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक रूप से जीता है और उसके क्षय होने पर उन-उन रूपो का त्याग करता है यानी मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं।[1]

आयुकर्म का स्वभाव कारागृह के समान है। जैसे अपराधी अपराध के अनुसार अमुक काल तक कारागृह में डाला जाता है और अपराधी उससे छुटकारा पाने की इच्छा भी करता है, किन्तु अवधि पूरी हुए विना निकल नही पाता है, उसे निश्चित समय तक रहना पडता है। वैसे ही आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि तक नारकादि गतियो मे रहना पडता है। जब बाँधी हुई आयु भोग लेता है, तभी उस-उस शरीर से छुटकारा मिलता है।

---

१. यद्भावाभावयोर्जीवितमरण तदायु । —तत्वार्थ राजवार्तिक ८।१०।२

आयुकर्म का कार्य जीव को सुख-दु.ख देना नही है, परन्तु नियत अवधि तक किसी एक शरीर मे वनाये रहने का है।

नारक जीव नरकगति मे अत्यन्त दुखी रहते हैं। वे वहाँ जीने की अपेक्षा मरना पसद करते है, किन्तु आयुकर्म के अस्तित्व से, भोगने योग्य आयुकर्म वने रहने से उनकी वह इच्छा पूरी नही होती। वैसे ही उन मनुष्य और देवो को जिन्हे कि विषयभोगो के साधन प्राप्त है और उन्हे भोगने के लिए जीने की प्रवल इच्छा रहते हुए भी आयु-कर्म के पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पडता है। अर्थात् आयुकर्म के अस्तित्व से जीव अपने निश्चित समय प्रमाण अपने स्थूल शरीर का त्याग नही कर सकता है और क्षय होने पर मरता है, यानी समय पूरा होने पर उस स्थूल शरीर मे नही रह सकता है। आयुकर्म के दो प्रकार है—अपवर्त्तनीय, अनपवर्त्तनीय।

अपवर्त्तनीय आयु—वाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उस को अपवर्त्तनीय आयु या अपवर्त्य आयु कहते है। तात्पर्य यह है कि जल मे डूवने, शस्त्रघात, विषपान आदि वाह्य कारणो से सौ-पचास आदि वर्षो के लिए वाधी गई आयु को अन्तर्मुहूर्त मे भोग लेना आयु का अपवर्तन है। इस आयु को जनसाधारण अकालमृत्यु भी कहते है।

अनपवर्त्तनीय आयु—जो आयु किसी भी कारण से कम न हो। जितने काल तक के लिए वाधी गई है, उतने काल तक भोगी जाय, वह आयु अनपवर्त्तनीय या अनपवर्त्य आयु कहलाती है।

उपपात जन्म लेने वाले, अर्थात नारक और देव, चरम शरीरी (तद्भव मोक्षगामी, उसी शरीर से मोक्ष जाने वाले), उत्तम पुरुप, अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, वलदेव आदि और असख्यात

वर्ष जीवी—देवकुरु, उत्तरकुरु आदि मे उत्पन्न—मनुष्य, तिर्यंच[1] अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष मनुष्य, तिर्यंच अपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं।

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय आयु का बध परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म मे बाधी जाती है। उस समय अगर परिणाम मद हो तो आयु का बध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर बधकालीन काल मर्यादा घट जाती है। अगर परिणाम तीव्र हो तो आयु का बंध गाढ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बधकालीन कालमर्यादा नही घटती है और न आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है। तीव्र परिणाम से गाढ रूप से वद्ध आयु शस्त्र, विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नही होती और मद परिणाम से शिथिल रूप से वद्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने के पहले भी अन्तर्मुहूर्त मात्र मे भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्तना या अकालमृत्यु और नियत स्थिति वाले भोग को अनपवर्तना या कालमृत्यु कहते है।

अपवर्त्तनीय आयु सोपक्रम—उपक्रम (तीव्र शस्त्र, विष, अग्नि आदि जिन निमित्तो से अकाल मृत्यु होती है, उन निमित्तो का प्राप्त होना उपक्रम है) सहित होती है। ऐसा उपक्रम अपवर्त्तनीय आयु के अवश्य होता है। क्योकि वह आयु कालमर्यादा समाप्त होने के पहले

---

१ असख्यातवर्ष जीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियो, छप्पन अन्तर्द्वीपो मे और कर्मभूमियो मे उत्पन्न युगलिक हैं, परन्तु असख्यातवर्ष जीवी तिर्यंच उक्त क्षेत्रो के अलावा ढाई द्वीप के वाहर द्वीप समुद्रो मे भी पाये जाते हैं।

भोगने योग्य है। परन्तु अनपवर्त्तनीय आयु सोपक्रम और निरूपक्रम दो प्रकार की होती है, अर्थात् उस आयु मे अकाल मृत्यु लाने वाले निमित्तो का सन्निधान होता भी है और नही भी होता है। किन्तु उक्त निमित्तो का सन्निधान होने पर भी अनपवर्त्तनीय आयु नियत काल-मर्यादा के पहले पूर्ण नही होती है। साराश यह कि अपवर्त्तनीय आयु वाले प्राणियो को शस्त्र आदि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है, जिससे वे अकाल मे भी मर जाते हैं और अनपर्त्तनीय आयु वालो को कैसा भी प्रवल निमित्त क्यो न मिले, लेकिन वे अकाल में नही मरते हैं।

आयुकर्म के चार भेद है—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु, और नरकायु।[1] इनके लक्षण इस प्रकार है—

देवायु—जिसके निमित्त से देवगति का जीवन विताना पडता है, उसे देवायु कहते हैं।

मनुष्यायु—जिसके उदय से मनुष्य गति मे जन्म हो वह मनुष्यायु है।

तिर्यंचायु—जिसके उदय से तिर्यंच गति का जीवन व्यतीत करना पडता है, उसे तिर्यंचायु कहते है।

नरकायु—जिसके उदय से नरक गति का जीवन विताना पडता है उसे नरकायु कहते हैं।

इस प्रकार आयुकर्म का निरूपण होने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त नामकर्म के स्वरूप व भेद-प्रभेदो का कथन करते है। जैसे चित्रकार

---

१ (क) नेरइय तिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य।
देवाउय चउत्थ तु आउकम्म चउव्विह ॥
—उत्तराध्ययन, अ० ३३, गा० १२

(ख) प्रज्ञापना पद २३, उ० २।

(ग) नारकतैर्यग्योन मानुषदैवानि। —तत्त्वार्थ अ० ८, सू० ११

हाथी, घोडे, सिह, हिरन, मनुष्य आदि नाना प्रकार के अच्छे-बुरे रूप बनाता है। उसी प्रकार नामकर्म जीव के अनेक प्रकार के अच्छे बुरे रूप बनाता है। इसीलिए नामकर्म के लिए चित्रकार की उपमा दी जाती है नामकर्म का लक्षण यह है—

नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे अथवा शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं।[1]

अपेक्षाभेद से नामकर्म की सख्या कई प्रकार से कही जाती है। जैसे किसी अपेक्षा से बयालीस, किसी अपेक्षा से तिरानवै, किसी अपेक्षा से एकसौ तीन और किसी अपेक्षा से सडसठ भेद हैं।

अब आगे की गाथा मे नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों के नाम और सख्या-भेद के लिए अपेक्षा सम्बन्धी कारणो का निरूपण करते हैं। सर्वप्रथम आगे की दो गाथाओ मे चौदह पिंड प्रकृतियां और आठ प्रत्येक प्रकृतिया कहते हैं।

गइजाइतणुऊवंगा बन्धणसघायणाणि संघयणा।
सठाणवण्णगन्धरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥२४॥
पिंडपयडित्ति चउदस, परघा उस्सास आयवुज्जोयं।
अगुरुलहुतित्थनिमणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥२५॥

---

१ विचित्र पर्यायैर्नमयति—परिणमयति यज्जीव तन्नाम।
जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइ कुणइ रूवाइ।
मोहणमसोहणाइ चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं ॥
तह नामपि हु कम्म अणेगरूवाइ कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइ इट्ठाणिट्ठाइ लोयस्स ॥
—स्थानाग २।४। १०५ टीका

गाथार्थ—गति, जाति, शरीर, अगोपाग, बधन सघातन, सहनन, सस्थान, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति ये नामकर्म की पिंड १४ प्रकृतिया है और पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण और उपघात ये आठ प्रत्येक प्रकृतिया हैं।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा मे नामकर्म के अपेक्षाभेद के कारण बयालीस, तिरानवे आदि भेद होने का सकेत किया गया है। सक्षेप या विस्तार से कहने की अपेक्षा ही इस सख्याभेद का कारण है। इन भेदो मे कुछ प्रकृतिया अवान्तर भेद वाली और कुछ अवान्तर भेद वाली नही हैं। इन भेदो मे जिन प्रकृतियो के अवान्तर भेद होते है—उन्हे पिंड, प्रकृति और जिन के अवान्तर भेद नही होते है उन्हे प्रत्येक, प्रकृति कहते है। इन्ही अवान्तर भेदो के होने और अवान्तर भेद नही होने के कारण नामकर्म की प्रकृतियो के बयालीस, तिरानवै आदि भेद हो जाते हैं। सर्वप्रथम बयालीस भेदो का कथन करने के लिए चौदह पिंड प्रकृतियो और आठ प्रत्येक प्रकृतियो के नाम इन दो गाथाओ मे बतलाये है। इनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं—

पिंड प्रकृतियां—(१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) अगोपाग, (५) बधन, (६) सघातन, (७) सहनन, (८) सस्थान, (९) वर्ण, (१०) गध, (११) रस, (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी और (१४) विहायोगति।

प्रत्येकप्रकृतिया—(१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थङ्कर, (७) निर्माण और (८) उपघात।[1]

---

१ (क) प्रज्ञापना उ० २, पद २३, सूत्र २९३ (ख) समवायाग स्थान ४२

ये सब नामकर्म की प्रकृतियाँ है, इसलिए इनका उच्चारण करते समय प्रत्येक के साथ नामकर्म शब्द जोड लेना चाहिए। जैसे गतिनामकर्म, जातिनामकर्म, शरीरनामकर्म आदि।

ऊपर कही गई पिडप्रकृतियो की परिभाषाये इस प्रकार है—

गति—जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियो मे जाए अथवा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव की पर्याय प्राप्त करता है, उसे गतिनामकर्म कहते है।

जाति—जिस कर्म के उदय से जीव स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियो मे से क्रमश एक, दो, तीन, चार, पाच, इन्द्रिया प्राप्त कर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय कहलाता है, उसे जातिनामकर्म कहते है।

शरीर—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर बने अथवा औदारिक आदि शरीरो की प्राप्ति हो उसे शरीर नामकर्म कहते है।

अगोपांग—जिस कर्म के उदय से जीव के अग—हाथ, पैर, सिर आदि और उपाग—अगुलि आदि रूप मे पुद्‌गलो का परिणमन होता है, उसे अगोपाग नामकर्म कहते है।

बन्धन—जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत औक्षारिक आदि शरीर पुद्‌गलो के साथ नवीन ग्रहण किए जाने वाले पुद्‌गलो का सम्वन्ध हो, उसे वन्धननामकर्म कहते हैं।

सघात—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किए हुए शरीर पुद्‌गलों पर नवीन ग्रहण किए जा रहे शरीर योग्य पुद्‌गल व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे सघात नामकर्म कहते है।

सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डियो की सधिया दृढ होती हैं, उसे संहनन नामकर्म कहते हैं ।

सस्थान—जिस कर्म के उदय से शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार वने, उसे सस्थान नामकर्म कहते है ।

वर्ण—जिस कर्म के उदय से शरीर मे कृष्ण, गौर आदि रग होते हैं, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं ।

गन्ध—जिस कर्म के उदय से शरीर मे शुभ-अच्छी या अशुभ-बुरी गन्ध हो, उसे गधनामकर्म कहते है ।

रस—जिस कर्म के उदय से शरीर मे तिक्त, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसो की उत्पत्ति हो उसे रस नामकर्म कहते हैं ।

स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति मे अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते है ।

विहायोगति[1]—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ अथवा ऊट, गध की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति कहते है ।

इन पिड-प्रकृतियो के अवान्तर भेद-प्रभेदो की सख्या और उनके नामो का सकेत आगे की गाथाओ मे यथास्थान किया जा रहा है ।

---

१ विहायोगति मे विहायस् विशेषण पुनरुक्ति दोष निवारण हेतु दिया गया है । सिर्फ गति शब्द रखने पर नामकर्म की पहली प्रकृति का नाम भी गति होने से पुनरुक्ति दोष हो सकता था । जीव की चाल अर्थ मे गति शब्द को समझने के लिए विहायस् शब्द है, न कि देवगति, मनुष्य-गति आदि के अर्थ मे ।

नाम कर्म की २८ प्रत्येक प्रकृतियो मे से आठ के नाम गाथा मे कहे गये है। उनके लक्षण ग्रथ मे आगे कहे जायेगे। अत यहाँ उनके लक्षण नही कहे है।

नामकर्म के अपेक्षा-भेद से बयालीस भेदो मे मे पिडप्रकृतियो के चौदह और प्रत्येक प्रकृतियो के आठ भेद कहे जा चुके हैं। शेष रहे बीस भेदो को त्रसदशक और स्थावरदशक मे ग्रहण किया गया है। जिनके नाम आगे की दो गाथाओ मे कहते है।

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभग च।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥
थावर सुहम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा बीसं ॥२७॥

गाथार्थ—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश.कीर्ति ये त्रसदशक की दस प्रकृतियाँ हैं और स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति ये स्थावरदशक की दस प्रकृतियाँ है। त्रसदशक और स्थावरदशक की उक्त दस-दस प्रकृतियो को जोडने से नामकर्म की बीस प्रकृतियाँ होती हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक प्रकृतियो के अट्ठाइस नामो मे से पूर्वगाथा मे बताई गई आठ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही बीस प्रकृतियो के नाम त्रसदशक और स्थावरदशक के रूप मे इन दो गाथाओ मे कहे हैं। त्रस से लेकर यश.कीर्ति तक के नामो की सख्या दस होने से इनको

त्रसदशक और स्थावर से लेकर अयश कीर्ति पर्यन्त नामो के भी दस भेद होने से उनको स्थावरदशक कहते हैं। इन दोनो दशको के दस-दस प्रकृति के नामो को मिलाने से कुल वीस भेद हो जाते हैं।

त्रस दशक की दस प्रकृतियो के नाम क्रमश. इस प्रकार हैं—

(१) त्रसनाम, (२) वादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येक-नाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम, (७) सुभगनाम, (८) सुस्वर-नाम, (९) आदेयनाम और (१०) यश कीर्तिनाम।

स्थावरदशक की प्रकृतियो के दस नाम ये हैं—

(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्तनाम, (४) साधारणनाम, (५) अस्थिरनाम, (६) अशुभनाम, (७) दुर्भगनाम, (८) दु स्वरनाम, (९) अनादेयनाम तथा (१०) अयश कीर्तिनाम।[1]

इन वीस प्रकृतियो मे से त्रसदशक की प्रकृतियो की गणना पुण्य-प्रकृतियो मे और स्थावरदशक की प्रकृतियो की गणना पापप्रकृतियो मे की जाती है। इन प्रकृतियो के लक्षण ग्रथ मे आगे कहे जा रहे हैं।

---

१ (क) त्रसदशक और स्थावरदशक की प्रकृतियो के नाम के लिए देखें—
प्रज्ञापना सूत्र, उ० २, पद २३ सूत्र २९३ का 'तसणामे थावरणामे अजसोकित्तिणामे' का अश।

(ख) समवायाग, सम ४२

(ग) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणवन्धनसङ्घातसस्थानसहननस्पर्शरस-गन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतय प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशासिसेतराणि तीर्थकृत्त्व च।

—**तत्त्वार्थसूत्र ८।१२**

इस प्रकार नाम कर्म के बयालीस भेदो के नामो का कथन करने के अनन्तर ग्रथलाघव की दृष्टि से त्रस आदि इन वीस प्रकृतियो की कतिपय सज्ञाओ, (सकेतों) को दो गाथाओ द्वारा कहते है ।

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहमतिग थावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहि पयडीहिं ॥२८॥
वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्क मिच्चाई ।
इय अन्नावि विभासा तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥२९॥

गाथार्थ—प्रारम्भ होने वाली प्रकृति के नाम सहित आगे की संख्या की पूर्णता तक गिनने से त्रसचतुष्क, स्थिरषट्क, अस्थिरषट्क, सूक्ष्मत्रिक, स्थावरचतुष्क, सुभगत्रिक, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, त्रसद्विक, त्रसत्रिक, त्रसचतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि सज्ञाएँ (विभाषाएँ) हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य भी उन-उन सख्यक प्रकृतियो के नाम गिनने से और और सज्ञाएँ समझ लेनी चाहिए ।

विशेषार्थ—शास्त्र का अर्थ समझने के लिए विस्तार न करना पड़े और जिज्ञासुओ को सक्षेप मे कथन का आशय समझाने के लिए सकेत-पद्धति अपनाई जाती है। इसीलिए इस ग्रथ को भी इसी सुगम शैली को अपनाकर कुछ सज्ञाओ का निर्धारण किया गया है। सकेत, विभाषा, सज्ञा ये शब्द समानार्थक है ।

प्रकृति के नामनिर्देश पूर्वक किये गये दो, तीन, चार आदि संज्ञाओ के सकेत से उस प्रकृति के नाम-सहित आगे की प्रकृतियो के नामो को गिनकर सख्या की पूर्ति करने से ये सज्ञाएँ वनती हैं। इस प्रकार से

बनने वाली कुछ सज्ञाओ का सकेत इन दो गाथाओ मे किया गया है, जो इस प्रकार है—

त्रसचतुष्क—(१) त्रसनाम, (२) वादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम।

स्थिरषट्क—(१) स्थिरनाम, (२) शुभनाम, (३) सुभगनाम, (४) सुस्वरनाम, (५) आदेयनाम, (६) यश कीर्तिनाम।

अस्थिरषट्क—(१) अस्थिरनाम, (२) अशुभनाम, (३) दुर्भगनाम, (४) दु स्वरनाम, (५) अनादेयनाम, (६) अयश कीर्तिनाम।

स्थावरचतुष्क—(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्त नाम (४) साधारणनाम।

सुभगत्रिक—(१) सुभगनाम, (२) सुस्वरनाम, (३) आदेयनाम।

वर्णचतुष्क—(१) वर्णनाम, (२) गधनाम, (३) रसनाम, (४) (४) स्पर्शनाम।

अगुरुलघुचतुष्क—(१) अगुरुलघुनाम, (२) अपघातनाम, (३) पराघातनाम, (४) उच्छ्वासनाम।

त्रसद्विक—(१) त्रसनाम, (२) वादरनाम।

त्रसत्रिक—(१) त्रसनाम, (२) वादरनाम, (३) पर्याप्तनाम।

त्रसषट्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम।

गाथा मे आये आदि शब्द का यह अर्थ समझना चाहिए कि कर्म-प्रकृत्तियो को सरलता से समझने के लिए इसी प्रकार की और दूसरी सज्ञाए वना लेनी चाहिए। जैसे—

दुगर्भत्रिक—(१) दुर्भगनाम, (२) दु स्वरनाम, (३) अनादेयनाम।

स्त्यानर्द्धित्रिक—(१) स्त्यानर्द्धि, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला-प्रचला।

तेइसवी गाथा मे अपेक्षा-भेद से नाम कर्म के ४२, ९३, १०३ और ६७ भेद होना कहा गया था। उनमे से वयालीस भेदो के नाम—१४ पिड-प्रकृति, ८ प्रत्येकप्रकृति, १० त्रसदशक मे गर्भित प्रकृतिया १० स्थावरदशक मे गर्भित प्रकृतिया—और उनको सकेतो द्वारा सक्षेप मे समझाने के लिए सज्ञाओ का कथन किया जा चुका है। अव शेष रहे अपेक्षाभेद से वनने वाले नामकर्म के ९३, १०३ और ६७ भेदो का निरूपण आगे की गाथा मे करते हैं।

प्रथम नामकर्म के ९३ भेदो को कहने के लिए १४ पिड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियो की सख्या वतलाते हैं।

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपचछ्च्छक्कं।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

गाथार्थ—पूर्व मे कही गई नामकर्म की गति आदि चौदह पिण्डप्रकृतियो के क्रमश. चार, पाँच, पाच, तीन, पाच, पाच, छह, छह, पाच, दो, पाँच, आठ, चार और दो भेद होते है। इन सव भेदो को जोडने से कुल पैंसठ भेद हो जाते है।

विशेषार्थ—अपेक्षा भेद से नामकर्म के तेरानवै आदि भेद भी कहे है। अत उनको कहने के लिए चौवीसवी गाथा मे कही गई पिंड-प्रकृतियो मे से उनके उत्तर भेदो की सख्या इस गाथा मे वतलाई है। गाथा मे प्रकृतियो के नाम न देकर उनके उत्तर भेदो की संख्या ही कही है। अत चौवीसवी गाथा मे कही गई प्रकृतियो के नामो के आगे इस गाथा मे वताई गई सख्या को क्रमश इस प्रकार जोडना चाहिए—

गतिनाम के ४ भेद, जातिनाम के ५ भेद, शरीरनाम के ५ भेद, अगोपागनाम के ३ भेद, बन्धननाम के ५ भेद, सघातननाम के ५ भेद, सहननननाम के ६ भेद, सस्थाननाम के ६ भेद, वर्णनाम के ५ भेद, गन्धनाम के २ भेद, रसनाम के ५ भेद, स्पर्शनाम के ८ भेद, आनुपूर्वी नाम के ४ भेद, विहायोगतिनाम के २ भेद।

इस प्रकार नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियो के उक्त गतिनाम कर्म के ४ भेद, जातिनाम कर्म के ५ भेद आदि विहायोगति नाम-कर्म के २ भेद पर्यन्त भेदो को मिलाने से उत्तरभेदो की समस्त सख्या ६५ होती है।

नामकर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतिया होने के कारण तथा बन्ध आदि की अपेक्षा कर्मप्रकृतियो की भिन्न सख्या को निम्नलिखित दो गाथाओ मे स्पष्ट करते है—

अडवीस-जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसयं।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचउ ॥३१॥
इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसअट्ठवन्नसयं ॥३२॥

गाथार्थ—नामकर्म की पिंड प्रकृतियो के उक्त पैंसठ भेदो मे अट्ठाईस प्रकृतियो को मिलाने से तेरानवै भेद तथा इनमे बन्धन के पन्द्रह भेद जोडने से एकसौ तीन भेद तथा पाँच शरीरो मे बधन तथा सघातन के भेदो को ग्रहण करने और सामान्य से वर्णचतुष्क का ग्रहण किए जाने से बध, उदय और उदीरण के सडसठ भेद समझ लेना चाहिए। बन्ध के समय सम्यक्त्व व मिश्रमोहनीय का बध नही होने से बध, उदय

और सत्ता की अपेक्षा समस्त आठ कर्मो की क्रमश एक सौ बीस, एकसौ बाईस और एकसौ अट्ठावन प्रकृतियाँ समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—अपेक्षा-भेद से नामकर्म के तेरानवे आदि भेद होने का कथन जो पहले गाथा मे कहा था, वे भेद कैसे बनते हैं तथा वध आदि की कितनी प्रकृतियाँ है, यह इन दो गाथाओ मे बतलाया है ।

पूर्व गाथा मे जो नामकर्म की चौदह पिडप्रकृतियो के ६५ भेद बतलाये है, उनमे पराघात आदि आठ और त्रसदशक व स्थावर-दशक की दस-दस इन सब को मिलाकर अट्ठाइस प्रकृतियो के जोड देने मे सत्ता मे ९३ प्रकृतियाँ तथा इन ९३ प्रकृतियो मे बन्धन नाम-कर्म के पाँच भेद ग्रहण किए गए है । किन्तु विस्तार से बन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद होते है । अत पाँच के स्थान पर पन्द्रह भेदो को जोडने पर नामकर्म की सत्ता मे एकसौ तीन प्रकृतियाँ समझना चाहिए ।

लेकिन औदारिकादि शरीरो मे औदारिकादि रूप बधन और औदारिकादि रूप सघातन होते है । अत. बधननाम कर्म के पन्द्रह भेद एव सघातन नामकर्म के पाँच भेद, सब मिलाकर बीस भेदो को शरीर नामकर्म के औदारिकादि पाँच भेदो मे शामिल करने और वर्ण गध, रस, स्पर्श नामकर्मो के उत्तरभेदो को सामान्य से मूल भेदो मे जोड लेने से अर्थात् वर्ण के पाच भेदो को वर्ण मे, गध के दो भेदो को गध मे, रस के पाँच भेदो को रस मे और स्पर्श के आठ भेदो को स्पर्श मे गर्भित कर देने से वर्णादि के चार भेद माने जाते है । अत वर्णादि सोलह तथा बधन, सघातन की बीस प्रकृतियो (कुल मिलाकर छत्तीस प्रकृतियो) को नामकर्म की पूर्वोक्त १०३ प्रकृतियो मे से घटा देने पर आपेक्षिक दृष्टि से नामकर्म की ६७ प्रकृतियां मानी जाती है ।

वध, उदय और उदीरणा योग्य आठो कर्मो की प्रकृतियो की गणना करते समय नामकर्म की इन सडसठ प्रकृतियो को ग्रहण करते हैं।

नामकर्म को तरह दूसरे ज्ञानावरणीय आदि कर्मो की वध, उदय आदि की अपेक्षा प्रकृतियो की सख्या और कारण इस प्रकार है—

कर्म की वध अधिकारिणी प्रकृतियाँ १२०, उदय अधिकारिणी प्रकृतिया १२२, और सत्ता अधिकारिणी १५८ प्रकृतियाँ है।

वध-अधिकारिणी १२० प्रकृतियाँ है—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। ये सब मिलाकर १२० प्रकृतियाँ होती हैं।

मोहनीय कर्म के २८ भेद है। परन्तु वध २६ का होने का कारण पहले वताया जा चुका है कि आत्मा मूल मे मिथ्यात्वमोहनीय का बध करती है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय का बध नही होता है। क्योकि जीव द्वारा जो मिथ्यात्व मोहनीय का बध किया जाता है, उसके कुछ पुद्गलो को अपने सम्यक्त्व गुण के कारण शुद्ध वना लेता है और कुछ पुद्गलो को अर्द्ध शुद्ध। इनमे से शुद्ध पुद्गलो को सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध शुद्ध पुद्गलो को मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय कहते है। मूल रूप से वधयोग्य प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय है। अतएव सम्यक्त्वमोहनीय एव मिश्रमोहनीय इन दो प्रकृतियो को मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियो मे से कम करने पर २६ प्रकृतियाँ वधयोग्य होती है और १२० प्रकृतिया बध-अधिकारिणी मानी जाती है।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्मप्रकृतियो की सख्या इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। ये सब मिलाकर १२२ प्रकृतियाँ होती है।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्म प्रकृतिया है। क्योकि बध-योग्य कर्मप्रकृतियो मे मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र-मोहनीय ये दो प्रकृतिया घटा दी गई थी। इनको मिला देने से १२२ प्रकृतिया उदय और उदीरणा की अधिकारिणी होती है।

सत्ता की अधिकारिणी १५८ अथवा १४८ कर्म प्रकृतियाँ है। सत्ता का अर्थ विद्यमान रहना है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मो के सामान्य-तया १५८ भेद होते हैं और उन सबकी विद्यमानता बतलाने के लिए १५८ प्रकृतिया सत्ता की अधिकारिणी मानी जाती हैं।

सत्ता अधिकारिणी १५८ कर्म प्रकृतियो की सख्या यह है—ज्ञाना-वरण की ५, दर्शनावरण की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नामकर्म की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। इन सबका जोड १५८ होता है। अपेक्षाभेद से १४८ प्रकृतिया भी सत्ता मे मानते है।

अपेक्षाभेद से सत्ताधिकारिणी १४८ प्रकृतियो के कहने का कारण यह है कि यदि बधन नामकर्म के १५ भेदो के बजाय ५ भेद ही ग्रहण किये जाय तो १५८ मे से बधन के १० भेद कम कर देने पर १४८ प्रकृतिया सत्तायोग्य मानी जायेगी।

इस प्रकार नामकर्म की पिंड प्रकृतियो की सख्या और बधादि मे प्रकृतियो की सख्या का कथन करने के बाद आगे ३३ से ५१ तक की गाथाओ मे नामकर्म की पिंड प्रकृतियो के भेदो के नाम, लक्षण तथा प्रत्येक प्रकृतियो के लक्षण कहते है।

निरयतिरिनरसुरगई इगबियतिय चउपणिदिजाइओ ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पणसरीरा ॥३३॥

गाथार्थ—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गति नामकर्म के, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाच जातिनाम कर्म के और औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर नामकर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ—नामकर्म की गति, जाति आदि चौदह पिड प्रकृतियो की सख्या पहले वतला चुके है। उस सख्या के अनुसार इस गाथा से लेकर तेतालीसवी गाथा तक उत्तरभेदो के नाम वतलाते है। सर्वप्रथम इस गाथा मे गति नामकर्म के चार, जाति नामकर्म के पाच और शरीर नामकर्म के पाँच भेदो के क्रमश नाम वतलाये हैं।

गति नामकर्म के चार भेदो के नाम और उनके लक्षण क्रमश. इस प्रकार है—

(१) नरक गति (२) तिर्यंचगति (३) मनुष्य गति (४) देव गति।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी पर्याय प्राप्त हो कि जिससे यह नारक है, ऐसा कहा जाए, वह नरकगति नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे, यह तिर्यंच है, ऐसा कहा जाए, वह तिर्यचगति नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे, यह मनुष्य है, ऐसा कहा जाय, वह मनुष्य गति नामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे, यह देव है, ऐसा कहा जाय, वह देवगति नामकर्म है।

गति नामकर्म के भेदो का कथन करने के पश्चात् जाति नामकर्म के पाँच भेदो के नाम और लक्षण कहते है।

(१) एकेन्द्रिय जातिनाम, (२) द्वीन्द्रिय जातिनाम, (३) त्रीन्द्रिय जातिनाम, (४) चतुरिन्द्रिय जातिनाम और (५) पचेन्द्रिय जाति नाम। ये जाति नामकर्म के पाँच भेद है।

इन्द्रिया पाच है। जिनके नाम क्रमश— (१) स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर), (२) रसनेन्द्रिय (जीभ), (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक), (४) चक्षुरिन्द्रिय (आख) और (५) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) हैं। इन पाच इन्द्रियों मे से स्पर्शनेन्द्रिय पहली और श्रोत्रेन्द्रिय पाचवी इन्द्रिय है। समस्त ससारी जीवो के स्पर्शनेन्द्रिय तो होती है और उसके अनन्तर क्रमश. रसनेन्द्रिय आदि एक-एक इन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय तक की वृद्धि से एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त जातिनामकर्म के पाच भेद होते हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय—स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय प्राप्त हो, उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रिया—शरीर और जीभ प्राप्त हो, उसे द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को तीन इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ और नाक प्राप्त हो, उसे त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म कहते है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को चार इन्द्रिया—शरीर, जीभ, नाक और आख प्राप्त हो, उसे चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म कहते है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव के पाचो इन्द्रिया—शरीर, जीभ, नाक, आँख और कान प्राप्त हो, उसे पचेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते है।

जाति नामकर्म का कथन करने के पश्चात् शरीर नामकर्म का वर्णन करते है। शरीर नामकर्म के पाच भेद है—(१) औदारिक शरीर नामकर्म, (२) वैक्रिय शरीर नामकर्म, (३) आहारक शरीर-नामकर्म' (४) तैजस शरीर नामकर्म और (५) कार्मण शरीर नाम कर्म। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर प्राप्त हो, उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्‌गलो से वना तथा हाड, मास, रक्त आदि जिसमे हो, वह औदारिक शरीर कहलाता है।

तीर्थकरो व गणधरो का शरीर प्रधान पुद्‌गलो से और सर्व-साधारण का शरीर स्थूल असार पुद्‌गलो से वनता है। यह औदारिक शरीर सभी मनुष्यो, तिर्यंचो को होता है, चाहे वे गर्भ जन्म वाले हो या समूर्च्छम जन्म वाले हो।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर प्राप्त हो, वह वैक्रिय शरीर नामकर्म कहलाता है। जिस शरीर से छोटे-वडे, एक-अनेक, विविध, विचित्र रूप वनाने की शक्ति प्राप्त हो, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार के हैं—औपपातिक, लब्धिप्रत्यय। देव और नारको का वैक्रिय शरीर औपपातिक कहलाता है। अर्थात् उनको उन गतियो मे जन्म लेने से वैक्रिय शरीर मिलता है। लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर मनुष्य और तिर्यंचो को होता है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच तप आदि के द्वारा प्राप्त शक्ति विशेप से वैक्रिय शरीर धारण कर लेते है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को आहारक शरीर प्राप्त हो, वह आहारक शरीर नामकर्म है। अन्य क्षेत्र (महाविदेह) मे वर्तमान तीर्थकरो की ऋद्धि-दर्शन, सशय-निवारण करने आदि कारणो से चौदह पूर्वधारी मुनिराज लब्धिविशेष से जो शरीर धारण करते है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। यह शरीर अति विशुद्ध, स्फटिक-सा निर्मल, शुभ, व्याघात रहित, अर्थात् न तो स्वय दूसरे से रुकता है और न दूसरो को रोकने वाला होता है। यह शरीर मनुष्यो को ही प्राप्त होता है। उनमे भी सबको नही, लेकिन चौदह पूर्वधारी मुनि-राजो को प्राप्त होता है। अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दश पूर्वधारी मुनि को किसी विषय मे सन्देह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान न हो, तब औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर मे जाना असभव समझकर अपनी विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा एक हस्त प्रमाण शरीर बनाते हैं। जो शुभ पुद्‌गलजन्य होने से शुभ, प्रशस्त उद्‌देश्य से बनाये जाने के कारण निरवद्य और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याघाती होता है। ऐसे शरीर से अन्य क्षेत्र मे स्थित सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनसे सदेह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं। यह कार्य सिर्फ अन्तर्मुहूर्त मे हो जाता है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर प्राप्त हो, उसे तैजस शरीर नामकर्म कहते है। तैजस पुद्‌गलो से बना हुआ, आहार को पचानेवाला और तेजोलेश्या का साधक शरीर तैजस शरीर कह-लाता है। तेजोलेश्या की तरह शीतलेश्या का हेतु भी यही तैजस शरीर होता है। कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजोलेश्या के द्वारा दूसरो को नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतल लेश्या के द्वारा लाभ, यह तैजस शरीर के प्रभाव मे ही समझना चाहिए।

(५) जिस कर्म से जीव को कार्मण शरीर की प्राप्ति हो, वह कार्मण शरीर नामकर्म है। ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मणशरीर कहलाता है। इसी शरीर के कारण जीव नरकादि गति रूप ससार मे जन्म-मरण के चक्कर लगाता रहता है।

तैजस और कार्मण शरीर सब ससारी जीवो के होते है और आत्मा के साथ उनका अनादि सम्बन्ध है। ये दोनो शरीर लोक मे कही भी प्रतिघात नही पाते है, अर्थात् वज्र-जैसी कठोर वस्तु भी इन्हे प्रवेश करने से रोक नही सकती है। क्योकि ये अत्यन्त सूक्ष्म है और सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश पा सकती है, जैसे—लोह-पिण्ड मे अग्नि।

एक साथ एक ससारी जीव मे कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं। पाँच कभी नही होते हैं। जब दो होते है, तब तैजस और कार्मण, क्योकि ये दोनो सभी ससारी जीवो के होते है। यह स्थिति विग्रहगति मे पूर्व शरीर को छोडकर दूसरी गति के शरीर को प्राप्त करने के लिए होने वाली गति के अन्तराल मे पाई जाती है। क्योकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नही होता है। जब तीन होते हैं, तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य-तिर्यंचो मे और दूसरा प्रकार देव-नारको मे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं, तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस कार्मण, औदारिक और आहारक।[1] पहला विकल्प वैक्रिय

---

१ (क) तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽचतुर्भ्यः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ४३

(ख) प्रज्ञापना, पद २१

लब्धि के समय कुछ मनुष्य और तिर्यचो मे पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनियो में होना सभव है। किन्तु वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ सभव न होने से पाँचो शरीर एक साथ किसी के भी नही होते हैं।

इस प्रकार नामकर्म की पिडप्रकृतियो मे से गति, जाति और शरीर नामकर्म के भेदो को कहने के अनन्तर क्रम-प्राप्त अगोपाग नामकर्म के भेदो को वतलाते हैं।

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवग अगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

गाथार्थ—दो हाथ, दो पैर, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट ये आठ अंग हैं। अगुली आदि अंग के साथ जुडे हुए छोटे अवयव उपाग हैं और शेष अगोपांग कहलाते हैं। ये अगादि तीनों औदारिकादि प्रथम तीन शरीरो मे ही होते है।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिडप्रकृतियो मे से अगोपांग नामकर्म के भेदो को गाथा मे कहा है। अगोपाग शब्द से अग, उपाग और अगोपाग इन तीन का ग्रहण होता है। इनमे मे अंग के क्रमश· आठ भेद हैं—(१—२) दो हाथ, (३—४) दो पैर, (५) एक पीठ, (६) एक सिर, (७) एक छाती और (८) एक पेट। अगों के साथ सलग्न अंगुली नाक, कान आदि छोटे-छोटे अवयवो को उपाग और अंगुलियो को रेखाओ तथा पर्वो आदि को अंगोपाग कहते हैं।

अगादि के लिए किसी-न-किसी आकृति की आवश्यकता होती है और आकृति औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरो मे पाई जाने से औदा-

रिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरो मे ही अगादि होते है। लेकिन तैजस, कार्मण शरीरो का कोई सस्थान अर्थात् आकार न होने से अगादि नही होते है। अगोपाग नामकर्म के तीन भेद है—औदारिक अगोपाग, वैक्रिय अगोपाग, आहारक अगोपाग। इनके लक्षण इस प्रकार है—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो से अगोपाग रूप अवयव बनते है, वह औदारिक अगोपाग नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलो से अगोपाग रूप अवयव बनते है, वह वैक्रिय अगोपाग नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलो से अगोपाग रूप अवयव बनते है, उसे आहारक अगोपाग नामकर्म कहते हैं।

अपने-अपने शरीर-रूप से परिणत पुद्गलो से उन-उनके योग्य अगोपाग बनते है।

अब आगे की गाथा मे बधन नामकर्म के भेदो को कहते है।

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण संबन्धं ।
जं कुणइ जउसमं तं[1] उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

गाथार्थ—जो कर्म लाख के समान बँधे हुए और बधने वाले औदारिकादि शरीरो के पुद्गलो का आपस मे सम्बन्ध कराता है—परस्पर मिलाता है, उस कर्म को औदारिक आदि बधन नामकर्म जानो।

---

१ बधणमुरलाई तणुनामा —इति पाठान्तरम्।

विशेषार्थ—जिस प्रकार लाख, गोद आदि चिकने पदार्थों से चीजे आपस मे जोड दी जाती है, उसी प्रकार वधन नामकर्म शरीर नामकर्म के वल से पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान मे ग्रहण हो रहे औदारिक आदि शरीरो के पुद्गलो को वाँध देता है—जोड देता है। यदि वधन नामकर्म न हो तो शरीराकार परिणत पुद्गलो मे वैसी ही अस्थिरता होजाती है, जैसी हवा मे उडते सत्तू के कणो मे होती है।

वन्धन दो प्रकार का होता है—सर्ववन्ध, देशवन्ध। नवीन पैदा होने वाले शरीरो के प्रारम्भ काल मे सर्ववन्ध होता है और वाद मे वे शरीर जव तक धारण किये हुए रहते है, देशवन्ध होता है। अर्थात् जो शरीर नवीन उत्पन्न नही होते है, किन्तु उनमे जव तक वे रहते हैं, देशवन्ध ही हुआ करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरो मे उत्पत्ति के समय सर्ववन्ध और वाद मे देशवन्ध होता है। किन्तु तैजस और कार्मण शरीर ससारी जीवो के सदैव रहते हैं, उनकी उत्पत्ति नवीन नही होती है अत उनमे देशवन्ध होता है।

वन्धन नामकर्म के पाँच भेद होते है—

(१) औदारिक शरीर-वन्धननाम, (२) वैक्रिय शरीर-वन्धन, नाम, (३) आहारक शरीर-वन्धननाम, (४) तैजस शरीर-वन्धन, नाम। (५) कार्मण शरीर-वन्धननाम। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत-पहले ग्रहण किये हुए औदारिक शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण—वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्गलो का आपस मे मेल हो, वह औदारिक शरीर-वन्धन नामकर्म हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण वैक्रिय शरीर पुद्गलो का आपस मे मेल हो, वह वैक्रिय शरीर-वन्धन नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण आहारक शरीर पुद्गलो का आपस मे मेल हो, वह आहारक शरीर-वन्धन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण तैजस शरीर पुद्गलो का आपस मे मेल हो, वह तैजस शरीर वन्धन नामकर्म हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत कार्मण शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण कार्मण शरीर पुद्गलो का आपस मे मेल हो, वह कार्मण शरीर-वन्धन नामकर्म है।

अपेक्षा भेद से वन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद भी कहे गये है, उनके नाम और वनने के कारण का कथन गाथा ३७ मे किया जा रहा है।

अव आगे की गाथा मे सघातन नामकर्म के भेदो को वतलाते है।

जं सघायइ उरलाइ पुग्गले तणगण व दंताली।
तं संघायं वंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

गाथार्थ—दताली द्वारा जैसे तृणसमूह एकत्रित होता है, वैसे ही जो कर्म औदारिकादि शरीर पुद्गलो को एकत्रित करता है, उसे सघातन नामकर्म कहते हैं। इसके भी वधन नामकर्म की तरह औदारिक आदि पाँच शरीरो के नाम की अपेक्षा से पाँच भेद होते है।

विशेषार्थ—सघातन का अर्थ सामीप्य होना, सान्निव्य होना है। पूर्वगृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गलो का परस्पर वधन तभी संभव है, जव गृहीत एव गृह्यमण पुद्गलो का पारस्परिक सामीप्य हो। अर्थात् दोनो एक दूसरे के निकट होगे, तभी वंधन होना सम्भव है। अत शरीर के योग्य पुद्गलो को सन्निहित करना, एक दूसरे के पास व्यवस्थित रूप से स्थापन करना, जिससे उन पुद्गलो का परस्पर मे प्रदेशो के अनुप्रवेश से एकरूपता प्राप्त हो सके, यह संघातन नामकर्म का कार्य है।

जैसे दताली से इधर-उधर विखरी घास इकट्ठी की जाती है, जिससे उस घास का गट्ठा वँध जाता है, उसी प्रकार सघातन नामकर्म शरीर योग्य पुद्गलो को सन्निहित करता है और वधन नामकर्म के द्वारा वे सम्वद्ध होते हैं। अर्थात् शरोर योग्य पुद्गलो को संघातन नामकर्म समीप लाता है और उसके वाद वधन नामकर्म उन्हे उन-उन शरीरो से सम्वद्ध करता है।

औदारिक आदि पाँच शरीरो के नाम के आधार से वधन नामकर्म के पाँच भेद है, वैसे ही सघातन नामकर्म के भी निम्नलिखित पाँच भेद होते है—

(१) औदारिक सघातन नामकर्म, (२) वैक्रिय सघातन नामकर्म, (३) आहारक सघातन नामकर्म, (४) तैजस सघातन नामकर्म और (५) कार्मण संघातन नामकर्म। इनके लक्षण क्रमश. इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक सघातन नाम है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय सघातन नाम है।

(३) जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारक सघातन नाम है।

(४) जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस सघातन नाम है।

(५) जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण सघातन नाम है।

पहले वधन नामकर्म के पाँच भेद वतलाते समय यह कहा गया था कि बधन नामकर्म के पन्द्रह भेद भी होते हैं। बधन नामकर्म के उक्त पन्द्रह भेद कैसे वनते है और उनके क्या नाम हैं, यह आगे की गाथा मे वतलाते हैं।

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्तणा ।
नव बंधणाणिइयरदुसहियाणं तिन्नि तेंसि च ॥३७॥

गाथार्थ—औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो का अपने नामवाले और तैजस व कार्मण शरीर के साथ सम्वन्ध जोडने से बधन नामकर्म के नौ भेद तथा तैजस-कार्मण को सयुक्त रूप से उनके साथ जोडने से और तीन भेद तथा तैजस व कार्मण को अपने नाम वाले व अन्य से सयोग करने पर तीन भेद होते हैं। इन कुल भेदो को मिलाने से वधन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—मूल रूप मे वन्धन नामकर्म के पाँच भेदो के नाम पैंतीसवी गाथा मे वतलाये जा चुके हैं। लेकिन अपेक्षा दृष्टि से वनने वाले वन्धन नाम कर्म के पन्द्रह भेदो के नाम और उनके वनने की विधि इस गाथा मे वतलाई गई है कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन

तीन शरीरो का अपने-अपने नाम वाले शरीर के पुद्‌गलो के साथ सयोग करने से तीन भग वनते हैं। जैसे औदारिक-औदारिक आदि तथा उक्त औदारिक, वैक्रिय, आहारक का तैजस शरीर के साथ सयोग करने से और तीन भग हो जाते है, जैमे—औदारिक-तैजस आदि। इसी प्रकार उक्त औदारिक आदि तीनो शरीर मे से प्रत्येक का कार्मण शरीर पुद्‌गलो के साथ सयोग करने से औदारिक-कार्मण आदि तीन भग वनते है।

इस प्रकार औदारिक आदि तीन शरीरो मे से प्रत्येक मूल शरीर का स्वकीय मूल शरीर के पुद्‌गलो के साथ सयोग करने से वनने वाले तीन भगो, औदारिक आदि तीन शरीरो मे से प्रत्येक का तैजस शरीर-पुद्‌गलो के साथ सयोग होने से वनने वाले तीन भगो तथा औदारिक आदि तीन शरीरो मे से प्रत्येक का कार्मण शरीर पुद्‌गलो के साथ सयोग होने से वनने वाले तीन भगो को जोड़ने से नौ भेद वनते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो मे से प्रत्येक का तैजस-कार्मण शरीर पुद्‌गलो के साथ युगपत् सयोग करने से तीन भेद वनते हैं, जैसे औदारिक-तैजस-कार्मण आदि तथा तैजस, कार्मण मे से प्रत्येक का स्वकीय और अन्य शरीर के पुद्‌गलो के साथ सयोग करने से और तीन भग वनते हैं। जैसे तैजस-तैजस वन्धन, तैजस-कार्मण-वन्धन, कार्मण-कार्मण बधन।

इस प्रकार पूर्वोक्त नौ, तीन और तीन इन कुल भगो को जोडने से वन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते है। जिनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं (१) औदारिक-औदारिक वन्धन नाम, (२) औदारिक-तैजस वन्धन नाम, (३) औदारिक-कार्मण वन्धन नाम, (४) वैक्रिय-

वैक्रिय बन्धन नाम, (५) वैक्रिय-तैजस बन्धन नाम, (६) वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम, (७) आहारक-आहारक बन्धन नाम, (८) आहारक-तैजस बन्धन नाम, (९) आहारक-कार्मण बन्धन नाम, (१०) औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन नाम, (११) वैक्रिय-तैजस कार्मण बन्धन नाम, (१२) आहारक-तैजस कार्मण बन्धन नाम, (१३) तैजस-तैजस बन्धन नाम, (१४) तैजस-कार्मण बन्धन नाम और (१५) कार्मण-कार्मण बन्धन नाम।[1] इनका अर्थ यह है कि—

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिक बन्धन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर पुद्गलो का तैजस पुद्गलो के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक-तैजस बन्धन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर पुद्गलो का कार्मण पुद्गलो के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक-कार्मण बन्धन नामकर्म है।

---

१ प्रकारान्तर से बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेदो को गिनने की सरल रीति।

मूल शरीर के साथ सयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-औदारिक, वैक्रिय-वैक्रिय, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण।

तैजस शरीर के साथ सयोग करने से बनने वाले भग—

औदारिक-तैजस, वैक्रिय-तैजस, आहारक-तैजस।

कार्मण शरीर के साथ सयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-कार्मण, वैक्रिय-कार्मण, आहारक-कार्मण, तैजस-कार्मण।

तैजस कार्मण शरीर का युगपत सयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण।

[पूरा नाम कहने के लिए प्रत्येक के साथ बन्धन नामकर्म जोड दे।]

इसी प्रकार वैक्रिय-वैक्रिय वन्धन नामकर्म आदि अन्य सभी का अर्थ समझ लेना चाहिए।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरो के पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध नही होता है, अर्थात् औदारिक के साथ औदारिक शरीर के पुद्गलो का ही सम्वन्ध हो सकता है, वैक्रिय, आहारक शरीर के पुद्गलो का नही। इसी प्रकार वैक्रिय, आहारक शरीरो के लिए भी समझ लेना चाहिए। चूंकि ये परस्पर विरुद्ध गुणधर्मी है, इसलिए उनके सम्वन्ध कराने वाले नामकर्म भी नही है।

बधन व सघातन नामकर्म के भेदो का कथन करने के वाद अब आगे की गाथा मे सहनन नामकर्म के भेदो का कथन करते है।

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥
कीलिअ छेवट्ठ इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं।
उभओ मक्कडबधो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

गाथार्थ—हड्डियो की रचना-विशेष को सहनन कहते है। इसके वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सेवार्त ये छह भेद है। इनमे ऋषभ का अर्थ पट्ट-वेष्टन, वज्र का अर्थ कील और नाराच का अर्थ दोनों ओर मरकटवध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियो के वर्णन मे क्रमप्राप्त महनन नामकर्म के भेदो का इन दो गाथाओ मे कथन किया गया है।

जिस नामकर्म के उदय के हाडो का आपस मे जुड़ जाना, अर्थात् रचना-विशेष होता है। उसे सहनन नामकर्म कहते है। औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य वैक्रिय आदि शरीरो मे हड्डियाँ नही होती हैं। अत सहनन नामकर्म का उदय औदारिक शरीर मे ही होता है। सहनन नामकर्म के छह भेद और उनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

(१) वज्रऋषभ नाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच,
(४) अर्द्धनाराच, (५) कीलिका, (६) छेवट्ठ।

प्रत्येक के साथ सहनन नामकर्म जोड लेना चाहिए।

(१) वज्र, ऋषभ और नाराच—इन तीन शब्दो के योग से निष्पन्न वज्रऋपभनाराच पद है। इनमे वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ वेष्टन—पट्टी और नाराच का अर्थ दोनो ओर मर्कटबध है। जिस सहनन मे दोनो तरफ से मर्कट बध से बधी हुई दो हड्डियो पर तीसरी हड्डी का वेठन (पट्ट) हो और इन तीनो हड्डियो को भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्रऋपभनाराच कहते है। जिस कर्म के उदय से हड्डियो की ऐसी रचना-विशेष हो, उसे वज्रऋषभनाराच-सहनन नामकर्म कहते है।

(२) जिस कर्म के उदय से हड्डियो की रचना-विशेष मे दोनो तरफ हड्डी का मर्कटवध हो, तीसरी हड्डी का वेठन भी हो, लेकिन तीनो को भेदने वाली हड्डी की कीली न हो, उसे ऋषभनाराच-सहनन नामकर्म कहते है।

(३) जिस कर्म के उदय से हड्डियो की रचना मे दोनो तरफ मर्कटवध हो, लेकिन वेठन और कील न हो, उसे नाराच-सहनन नामकर्म कहते है।

(४) जिस कर्म के उदय से हड्डियो की रचना मे एक ओर मर्कट बध और दूसरी ओर कील हो उसे अर्धनाराच सहनन नामकर्म कहते है।

(५) जिस कर्म के उदय से हड्डियो की रचना मे मर्कटवध और वेठन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुडी हो, उसे कीलिका-सहनन नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से हड्डियो की रचना मे मर्कटबंध, वेठन और कील न होकर यो ही हड्डिया आपस मे जुडी हो, उसे छेवट्ट-सहनन नामकर्म कहते है। छेवट्ट को सेवार्त अथवा छेदवृत्त भी कहते है।

इस प्रकार सहनन नामकर्म के भेदो का कथन करके आगे की गाथा मे सस्थान और वर्ण नामकर्म के भेदो का वर्णन करते हैं।

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं।
स ठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

गाथार्थ—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड— ये सस्थान नामकर्म के और कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र पीत एव श्वेत—ये वर्ण नामकर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे सस्थान और वर्णनाम कर्म के भेदो के नाम कहे गये है। उनमे से पहले सस्थान नामकर्म और वाद मे वर्णनाम-कर्म के भेदो का निरूपण करते हैं।

शरीर के आकार को सस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सस्थान की प्राप्ति हो, उसे सस्थान नामकर्म कहते है। मनुष्यादि मे जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृतियो मे विविधताएँ दिखती हैं, उनका कारण सस्थान नामकर्म है। सस्थान नामकर्म के छह भेद हैं, जिनके नाम क्रमश ये हैं—

(१) समचतुरस्र-सस्थान नामकर्म, (२) न्यग्रोध-परिमडल-सस्थान नामकर्म, (३) सादि-सस्थान नामकर्म, (४) कुब्ज-सस्थान नामकर्म,

१ सहनन एव सस्थान के चित्र परिशिष्ट मे देखिए।

(५) वामन-सस्थान नामकर्म, और (६) हुड-सस्थान नामकर्म। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) सम, चतु, अस्र, इन तीन शव्दो से निष्पन्न समचतुरस्र पद मे सम का अर्थ समान, चतु का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण होता है। अर्थात् पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारो कोण समान हो, यानी आसन और कपाल का अन्तर, दोनो घुटनो का अन्तर दाहिने कधे और बाये जानु का अन्तर, बाये कधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्र कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हो, वह समचतुरस्र-सस्थान नाम-कर्म कहलाता है।

(२) जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान हो, अर्थात् शरीर मे नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण—मोटे हो और नाभि से नीचे के अवयव हीन—पतले हो, उसे न्यग्रोध-परि-मडल-सस्थान नामकर्म कहते है।

(३) जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव हीन-पतले और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण-मोटे हो—वह सादि-सस्थान नाम-कर्म है। न्यग्रोध-परिमण्डल-सस्थान से विपरीत शरीर-अवयवो की आकृति इस सस्थान वालो की होती है।

(४) जिस कर्म के उदय से शरीर कुवडा हो, वह कुब्ज-सस्थान नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से शरीर वामन (बौना) हो, उसे वामन-सस्थान नाम कर्म कहते है।

(६) जिस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव वेडौल हो—यथायोग्य प्रमाण युक्त न हो, उसे हुण्ड-सस्थान नामकर्म कहते हैं।

संस्थान नामकर्म के भेदो का निरूपण करने के बाद वर्ण नामकर्म के भेद और लक्षण बतलाते है। वर्ण नामकर्म के उदय से शरीर मे कृष्ण, गौर आदि वर्ण होते हैं। वर्ण नामकर्म के पाँच भेद इस प्रकार हैं।

(१) कृष्ण, (२) नील, (३) लोहित, (४) हारिद्र, और (५) सित। इनके लक्षण यह हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले-जैसा काला हो, वह कृष्णवर्ण नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पख-जैसा हरा हो, वह नीलवर्ण नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिन्दूर जैसा लाल हो, वह लोहितवर्ण नामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी-जैसा पीला हो, वह हरिद्रवर्ण नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शख-जैसा सफेद हो, उसे सितवर्ण नाम कर्म कहते हैं।

इस प्रकार संस्थान और वर्ण नामकर्म के भेदो का कथन करने के पश्चात आगे की गाथा मे गध, रस और स्पर्श नामकर्म के भेदो को बतलाते है।

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसाय अंबिला महुरा।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

गाथार्थ—सुरभि-सुगध और दुरभि-दुर्गन्ध ये दो गध नाम, कर्म के भेद हैं। तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर ये रस नामकर्म के पाँच भेद है तथा स्पर्श नामकर्म के गुरु, लघु, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये आठ भेद हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे वर्णचतुष्क मे से वर्ण नामकर्म के पाच भेदो का कथन किया गया है। शेष रहे गध, रस, स्पर्श नामकर्म के भेद और उनके लक्षण क्रमश यहाँ कहते है।

गध नामकर्म के दो भेद है—(१) सुरभि गध, (२) दुरभि गध नामकर्म।

(१) जिस कर्म के उदय मे जीव के शरीर मे कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थो-जैसी सुगधि हो, उसे सुरभि गंध नामकर्म कहते है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर मे लहसुन, सडे-गले पदार्थो-जैसी गध हो, वह दुरभि गन्ध नामकर्म है।

तीर्थंकर आदि के शरीर सुगधित होते है।

रस नामकर्म के पाँच भेद और उनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) तिक्तरस, (२) कटुरस, (३) कषायरस, (४) अम्लरस, (५) मधुररस।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोठ या काली मिर्च-जैसा चरपरा हो, उसे तिक्तरस नामकर्म कहते है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस चिरायता, नीम जैसा कटु हो, उसे कटुरस नामकर्म कहते है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आँवला, बहेडा जैसा कसैला हो, वह कषायरस नामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर नीबू, इमली जैसे खट्टे पदार्थो जैसा हो, वह अम्लरस नामकर्म कहा जाता है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस मिश्री आदि मीठे पदार्थो-जैसा हो, उसे मधुरस नामकर्म कहते हैं।

स्पर्श नामकर्म के आठ भेद और उनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) गुरु, (२) लघु, (३) मदु, (४) खर, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध और (८) रुक्ष। प्रत्येक के साथ स्पर्श नामकर्म जोड़ लेना चाहिए।

(१) जिस कर्म के उदय मे जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो, वह गुरुस्पर्श नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई-जैसा हल्का हो, वह लघुस्पर्श नाम कर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन-जैसा कोमल हो, वह मृदुस्पर्श नाम कर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ-जैसा खुरदरा, कर्कश हो, वह खरस्पर्श नामकर्म है। इसे कर्कशस्पर्श नामकर्म भी कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वर्फ जैसा ठडा हो, वह शीतस्पर्श नामकर्म है।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आग जैसा उष्ण हो, वह उष्णस्पर्श नामकर्म है।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो, वह स्निग्धस्पर्श नामकर्म है।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वालू-जैसा रूखा हो, वह रूक्ष स्पर्श नामकर्म है।

इस प्रकार वर्ण चतुष्क के वीस भेदो का वर्णन करने के वाद आगे की गाथा मे इनमे से कौन शुभ और कौन अशुभ हैं, उनके नाम वतलाते हैं।

नीलं कसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

गाथार्थ—वर्णचतुष्क की पूर्वोक्त वीस प्रकृतियो मे से नील, कृष्ण, दुर्गन्ध, तिक्त, कटु, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत ये नौ प्रकृतिया अशुभ है और शेष रही ग्यारह प्रकृतिया शुभ है।

विशेषार्थ—वर्ण, गध, रस और स्पर्श नामकर्म के पहले क्रमश पाच, दो, पाच और आठ—कुल वीस भेद वतलाये गये हैं। उनमे से कितनी शुभ और कितनी अशुभ प्रकृतिया हैं, यह गाथा मे स्पष्ट किया गया है। उनके नाम इस प्रकार है—

अशुभ वर्ण नामकर्म—कृष्णवर्ण, नीलवर्ण।

अशुभ गध नामकर्म—दुरभिगध (दुर्गन्ध)।

अशुभ रस नामकर्म—तिक्तरस, कटुरस।

अशुभ स्पर्श नामकर्म—गुरु स्पर्श, खर-कर्कश स्पर्श, रूक्षस्पर्श, शीतस्पर्श।

उक्त दो वर्ण, एक गध, दो रस और चार स्पर्श के नाम मिलाने से वर्णचतुष्क की नौ अशुभ प्रकृतिया समझनी चाहिए।

वर्णचतुष्क की उक्त नौ अशुभ प्रकृतियो के सिवाय शेष रही ग्यारह शुभ प्रकृतियो की सख्या और नाम क्रमश इस प्रकार हैं—

शुभ वर्ण नामकर्म—सितवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण।

शुभगध नामकर्म—सुरभिगध (सुगध)।

शुभ रस नामकर्म—कपायरस, आम्लरस, मधुररस।

शुभस्पर्श नामकर्म—लघुस्पर्श, मृदुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श।

इस प्रकार तीन वर्ण, एक गध, तीन रस, और चार स्पर्श के भेदो को मिलाने से वर्णचतुष्क के ग्यारह भेद शुभ प्रकृतियो मे माने जाते हैं।

अव आगे की गाथा मे आनुपूर्वी नामकर्म के भेद, नरकद्विक आदि सज्ञाए और विहायोगति नामकर्म के भेदो को कहते हैं।

चउह गइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुग तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ।।४३।।

गाथार्थ—गति नामकर्म के चार भेदो के समान आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार भेद होते हैं और आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति मे होता है। गति और आनुपूर्वी को मिलाने से गतिद्विक और इस द्विक मे आयु को जोडने से गतित्रिक सज्ञाए वनती हैं। बैल और ऊट की चाल की तरह शुभ और अशुभ के भेद से विहायोगति नामकर्म के दो भेद हैं।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिड प्रकृतियो मे से शेप रही आनुपूर्वी और विहायोगति प्रकृतियो के भेदो और आनुपूर्वी नामकर्म के भेदो से वनने वाली नरकद्विक आदि सज्ञाओ का कथन गाथा मे किया गया है।

आनुपूर्वी नामकर्म के भेद और स्वरूप आदि का वर्णन क्रमश इस प्रकार है—

गति नामकर्म के चार भेदो की तरह आनुपूर्वीनामकर्म के भी चार भेद हैं—

(१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी,
(३) तिर्यंचानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी।

जिस कर्म के उदय से विग्रहगति मे रहा हुआ जीव आकाश-प्रदेशो की श्रेणी के अनुसार गमन कर उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते है।

गति करने की शक्ति जीव और पुद्गल मे है। अत निमित्त मिलने पर ये दोनो गतिक्रिया मे परिणत होकर गति करने लगते है। किन्तु यहाँ मुख्यतया जीव की गति के बारे मे विचार किया जा रहा है।

जीव की स्वाभाविक गति श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश-प्रदेशो की पक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव की यह गति दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर जाते समय जीव को किसी प्रकार का नवीन प्रयत्न नही करना पडता है, क्योकि जब वह पूर्व शरीर छोडता है, तव उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है और उसी के वेग से दूसरे प्रयत्न के बिना धनुष से छूटे वाण के समान सीधा अपने नवीन स्थान पर पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र—घुमाव वाली होती है। इसलिए इस गति से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है। क्योकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहाँ तक ही कार्य करता है, जहाँ से जीव को घूमना पड़े। इन दोनो प्रकार की गतियो मे मुक्त जीव की गति ऋजु गति ही होती है और ससारी जीव की ऋजु और वक्र—दोनो प्रकार की गति होती है।

एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को धारण करने, अर्थात् इस भव-सम्बन्धी शरीर को छोडकर भवान्तर सम्बन्धी शरीर को धारण करने के लिए जब ससारी जीव की गति होती है, यानी विग्रहगति मे रहा हुआ जीव गति करता है, तो आकाश प्रदेशो की श्रेणी के अनुसार गति करता हुआ उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता हैं। इसमे आनु-

पूर्वी नामकर्म कारण है। जो समश्रेणी से अपने उत्पत्ति स्थान के प्रति जाने वाले ससारी जीव को उसके विश्रेणी पतित उत्पत्ति स्थान पर पहुँचा देता है। यदि जीव का उत्पत्ति स्थान समश्रेणी मे हो तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नही होता है। वक्रगति मे आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है, ऋजुगति मे नही होता है।

इसी सदर्भ मे प्रयोग मे आने वाली गतिद्विक, गतित्रिक आदि सज्ञाओ के सकेत का अर्थ यह है कि जहाँ गतिद्विक ऐसा सकेत हो, वहाँ गति और आनुपूर्वी नामकर्म यह दो प्रकृतियाँ लेना चाहिए और जहाँ गतित्रिक सकेत हो, वहाँ गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीन प्रकृतियो का ग्रहण करना चाहिए। सामान्य मे ये सज्ञाएँ कही गई है। विशेष से सज्ञाओ को इस प्रकार समझना चाहिए, जैसे—'नरकद्विक' मे नरकगति और नरकानुपूर्वी का ग्रहण होगा। यदि नरकत्रिक सज्ञा का सकेत हो तो उसमे नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु का ग्रहण होगा। इसी प्रकार तिर्यचद्विक, तिर्यचत्रिक, मनुष्यद्विक, मनुष्यत्रिक, देवद्विक, देवत्रिक सज्ञाओ के लिए समझ लेना चाहिए। अपने-अपने नामवाली गति, आनुपूर्वी और आयु को ग्रहण करने से द्विक, और आयु को ग्रहण करने पर त्रिक सज्ञाएँ बनती हैं।

विहायोगति नामकर्म के भेद और लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) शुभविहायोगति, (२) अशुभविहायोगति।

जिस कर्म के उदय से जीव का चाल हाथी, बैल की चाल की तरह शुभ हो, वह शुभविहायोगति नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट, गधे आदि की चाल की तरह अशुभ हो, वह अशुभविहायोगति नामकर्म है।

इस प्रकार नामकर्म की पिण्ड प्रकृतियो का वर्णन करने के वाद आगे की गाथाओ मे प्रत्येक प्रकृतियो का वर्णन करते है ।

परघाउदया पाणी परेसि बलिण पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

गाथार्थ—पराघात नामक कर्म के उदय से जीव दूसरे वलवानो के लिए अजेय होता है और उच्छ्वास नामकर्म के उदय से उच्छ्वास लब्धियुक्त होता है ।

विशेषार्थ—नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियो का कथन करने के वाद प्रत्येक प्रकृतियो का वर्णन करते हैं । उनमे से पराघात और उच्छ्वास प्रकृतियो के लक्षण इस प्रकार हैं—

जिस कर्म के उदय से जीव वडे-बडे वलवानो की दृष्टि मे भी अजेय मालूम हो, वह पराघात नामकर्म है । अर्थात् पराघात नामकर्म का उदय होने पर जीव कमजोरो का तो कहना ही क्या, वडे-वडे वलवानो बुद्धिमानो, विद्वानो और विरोधियो की दृष्टि मे भी अजेय दिखता है, उसके प्रभाव से वे पराभूत हो जाते हैं ।

जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धियुक्त होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते है । शरीर से वाहर की हवा को नाक द्वारा अन्दर खीचना श्वास है और शरीर के अन्दर की हवा को नाक द्वारा वाहर छोडना उच्छ्वास कहलाता है । इन दोनो कार्यो को करने की शक्ति उच्छ्वास नामकर्म से जीव को प्राप्त होती है ।

इस प्रकार पराघात और उच्छ्वास नामकर्म के लक्षण वतलाने के वाद आगे की दो गाथाओ मे आतप और उद्योत नामकर्म के लक्षण कहते हैं ।

रविबिंबे उ जियगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं लेहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥
अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

गाथार्थ—आतप नामकर्म के उदय से जीवो का अग तापयुक्त होता है। इसका उदय सूर्यमण्डल के पार्थिव शरीरो मे होता है, किन्तु अग्निकाय के जीवो को नही होता है। उनके तो उष्णस्पर्श और लोहितवर्ण नामकर्म का उदय होता है। साधु और देवो के उत्तर वैक्रिय शरीर, एव चन्द्र, तारा आदि जोतिष्को और जुगनू के प्रकाश की तरह उद्योत नामकर्म के उदय से जीवो का शरीर अनुष्ण—शीत—प्रकाशरूप उद्योत करता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे आतप और उद्योत नामकर्म के लक्षण तथा वे किन जीवो के होते हैं तथा आतप उष्ण स्पर्श नामकर्म मे क्या अन्तर है, स्पष्ट करते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वय उष्ण न होकर उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं।

जिसके आतप नामकर्म का उदय होता है, वह स्वय तो उष्णता रहित होता है, परन्तु प्रकाश, प्रभा, उष्णता सहित होती है। इस आतप नामकर्म का उदय सूर्यविम्ब के वाहर पृथ्वीकाय के जीवों के होता है। इन जीवो के सिवाय सूर्य मण्डल के अन्य जीवों के आतप नामकर्म का उदय नही होता है।

आतप नामकर्म का उदय अग्निकाय के जीवो का नही होता है, क्योकि आतप नामकर्म का उदय उन्ही जीवो के होता है, जिनका शरीर स्वय तो ठण्डा हो, लेकिन उष्ण प्रकाश करते है। लेकिन अग्नि, काय के जीवो का शरीर और उनका प्रकाश भी उष्ण होता है। इसीलिए उनके उष्णस्पर्श और लोहितवर्णनामकर्म का उदय कहा है।

साराश यह है कि आतप नामकर्म का उदय जिन जीवो के होता है, उनका शरीर स्वय तो ठण्डा है, लेकिन प्रभा ही उष्ण होती है और अग्निकाय के जीवो का शरीर भी उष्ण स्पर्श एव प्रकाश भी उष्ण स्पर्श वाला होता है। इसका कारण उष्ण स्पर्श और लोहित वर्ण नामकर्म हैं। आतप नामकर्म और उष्णस्पर्शनामकर्म वाले जीवो मे यही अन्तर है।

अव उद्योत नामकर्म की व्याख्या करते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

लब्धि-धारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, तव उनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, वह इस उद्योत नामकर्म का उदय समझना चाहिए। इसी प्रकार देव जब मूल शरीर की अपेक्षा उत्तर वैक्रिय शरीर धारण करते है और उससे जो शीतल प्रकाश निकलता है, वह भी उद्योत नामकर्म के कारण से समझना चाहिए। चन्द्र, नक्षत्र और तारा मण्डलो के पृथ्वीकाय के जीवो के शरीर उद्योत नामकर्म से युक्त होने के कारण शीतल प्रकाश फैलाते है। इसी प्रकार जुगुनू, रत्न एव अन्य प्रकाश फैलाने वाली औषधियो मे भी इसी उद्योत नामकर्म का उदय समझना चाहिए।

अब आगे की गाथा मे अगुरुलघु और तीर्थंकर नामकर्म के लक्षण कहते है।

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

गाथार्थ—अगुरुलघु कर्म के उदय से जीव का शरीर न तो भारी और न हल्का होता है। तीर्थंकर नामकर्म के उदय से जीव त्रिभुवन का भी पूज्य होता है। इसका उदय केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात होता है।

विशेषार्थ—अगुरुलघु और तीर्थंकर नामकर्मो का स्वरूप गाथा मे समझाया गया है।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्का और भारी न होकर अगुरुलघु परिणाम वाला होता है, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

अगुरुलघु नामकर्म के कारण ही जीव को स्वय अपना शरीर भारी मालूम नही पडता है कि उसे सभालना कठिन हो जाए और न इतना हल्का ही प्रतीत होता है कि आक की रुई के समान हवा मे उडने से भी नही बचाया जा सके। अर्थात् जीव को स्वय का शरीर वजन मे भारी या हल्का प्रतीत न होकर अगुरुलघु नामकर्म के उदय से अगुरुलघु परिणाम वाला प्रतीत होता है।

जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है, उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते है।

तीर्थंकर नामकर्म का उदय केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होता है। इस कर्म के कारण ही वह त्रैलोक्य पूज्य और उसे समंवसरण रूप बाह्य वैभव प्राप्त होता है। यह वैभव सभी केवलज्ञानियो को प्राप्त

नही होता, किन्तु उन्हे मिलता है, जिन्होने तीर्थंकर नामकर्म का वध किया हो। तीर्थंकर पद मे विराजमान केवलज्ञानी अधिकारयुक्त वाणी मे उस मार्ग को दिखाते हैं, जिसका आचरण कर स्वय ने इस कृत-कृत्य दशा को प्राप्त किया है। धर्मतीर्थ की स्थापना करते है, जिसको श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी रूप चतुर्विध सघ भी कहते हैं।

ससार के वडे-से-वडे शक्तिशाली देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि तक उनकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं और उनकी वाणी को सुनने का अवसर प्राप्त करने के लिए अपना अहोभाग्य मानते है।

अव आगे की गाथा मे निर्माण और उपघात नामकर्म का स्वरूप कहते हैं।

अङ्गोवगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसम।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयबलं बिगाईहिं ॥४८॥

गाथार्थ—निर्माण नामकर्म सूत्रधार के समान शरीर के अगो और उपागो का यथायोग्य प्रदेशो मे व्यवस्थापन करता है। उपघात नामकर्म के कारण जीव अपने शरीर के अवयव भूत लविका यानी छठी अगुली आदि से क्लेश पाता है।

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से शरीर मे अग-उपाग अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं, उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं।

निर्माण का अर्थ है व्यवस्थित रूप से रचना होना जैसे चित्रकार या शिल्पी चित्र या मूर्ति मे हाथ-पैर आदि अवयवो को यथास्थान चित्रित करता या वनाता है, वैसे ही निर्माण नामकर्म शरीर के अवयवो का नियमन करता है। यदि यह कर्म न हो तो अगोपाग नामकर्म के उदय से वने हुए अग-उपागो—हाथ, पैर, आँख, कान आदि का

यथास्थान नियमन नही हो सकता है। अर्थात् निर्माण नामकर्म शारीरिक अवयवो का उन-उन के स्थान पर होने का नियमन करता है और इसके कारण वे अग-उपाग आदि अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित रीति से स्थापित होते है।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के अवयवो—प्रतिजिह्वा (पडजीव), चौरदत (ओठ के बाहर निकले हुए दाँत), लंबिका (छठी उगली) आदि से क्लेश पाता है, उसे उपघात नामकर्म कहते है।

शरीर मे अग और उपागो के यथायोग्य स्थान पर व्यवस्थित होने पर भी किसी-किसी जीव के शरीर मे अवयवभूत अग उपाग-ऐसे दिखते है, जो उपयोगी कार्य मे सहकारी न होकर जीव को क्लेशोत्पादक बन जाते है। इनका क्लेशोत्पादक बनने का कारण उपघात नामकर्म है।

इस प्रकार निर्माण और उपघात नाम कर्मो का स्वरूप कथन करने के पश्चात आगे की गाथा मे त्रस, बादर और पर्याप्त नामकर्मो का स्वरूप कहते है।

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४६॥

गाथार्थ—त्रस नामकर्म के उदय से जीव दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले, बादर नामकर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल और पर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियो सहित होते हैं। पर्याप्त जीव लब्धि और करण के भेद से दो प्रकार के है।

विशेषार्थ—गाथा मे त्रसदशक की प्रकृतियो मे से क्रमश. त्रस, वादर और पर्याप्त प्रकृतियो का स्वरूप समझाया हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

त्रस जीवो के चार भेद है—(१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पचेन्द्रिय। त्रस जीव गर्मी-सर्दी से अपना वचाव करने के लिए एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान मे जाने मे समर्थ होते हैं।

यद्यपि तेजस्काय और वायुकाय के जीवो के स्थावर नामकर्म का उदय है, लेकिन उनमे त्रस की-सी गति होने के कारण गति-सादृश्य देखकर उन्हे त्रस कहा जाता है। अर्थात् त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धि-त्रस और गतित्रस। त्रस नामकर्म के उदय वाले द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीव लब्धित्रस है और मुख्य रूप से ये ही त्रस कहलाते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवो के स्थावर नामकर्म का उदय होता है और वे स्थावर ही हैं। लेकिन त्रस जीवो के समान गतिशील होने से तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव गतित्रस कहलाते हैं। ये उपचार से त्रस कहे जाते है।

उक्त द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवो मे से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय त्रस मनरहित होते हैं और पचेन्द्रियो मे से कई प्राणी मनसहित और कई मनरहित होते है। किन्तु तेजस्कायिक और वायुकायिक त्रस तो मनरहित ही होते है।

जिस कर्म के उदय से जीव को वादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो, उसे वादर नामकर्म कहते है।

'जिमे आख देख सके', यह वादर का अर्थ नही है, क्योकि एक-एक वादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आँखो से नही देखा जा सकता है।

किन्तु वादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के वादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे वादर पृथ्वीकाय आदि जीवो के शरीर समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट करता है, जिससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते है।

वादर नामकर्म जीवविपाकिनी प्रकृति है। यह प्रकृति शरीर के पुद्गलो के माध्यम से जीव मे वादर परिणाम को उत्पन्न करती है, जिससे वे दृष्टिगोचर होते है। किन्तु जिन्हे इस कर्म का उदय नही होता, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदाय रूप मे भी एकत्रित हो जायें तो भी वे दृष्टिगोचर नही होते है।

वादर नामकर्म को जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्गलो के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति का कारण यह है कि जीव-विपाकिनी प्रकृति का शरीर मे प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नही है। जैसे क्रोध के जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी उसका उद्रेक—भोह का टेढा होना, ऑखो का लाल होना, ओठो की फड़फड़ाहट इत्यादि परिणामो द्वारा प्रकट रूप मे दिखलाई देता है। साराश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिए वादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के वादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीर समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियो से युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नामकर्म है।

जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलो को ग्रहण करने तथा उनका आहार, शरीर आदि के रूप मे वदल देने का कार्य होता है। अर्थात् पुद्गलो के उपचय से जीव की पुद्गलो को ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते है।

पर्याप्ति के छह भेद हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषा-पर्याप्ति, (६) मनपर्याप्ति ।

उक्त छह पर्याप्तियो मे अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीव के चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय के उक्त आहार आदि चार पर्याप्तियो के साथ भाषा-पर्याप्ति के मिलाने से पाँच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के आहारादि मन पर्यन्त छहो पर्याप्तिया होती है ।

इहभव सम्वन्धी शरीर का परित्याग करने के वाद परभव सम्वन्धी शरीर ग्रहण करने के लिए जीव उत्पत्ति स्थान मे पहुँचकर कार्मण शरीर के द्वारा जिन पुद्‌गलो को प्रथम समय मे ग्रहण करता है, उनके आहार पर्याप्ति आदि रूप छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहो पर्याप्तियो का बनना प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् प्रथम समय मे ग्रहण किये हुए पुद्‌गलो के छह भागो मे से एक-एक भाग लेकर प्रत्येक पर्याप्ति का बनना प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमश होती है । अर्थात् आहार के वाद शरीर, शरीर के वाद इन्द्रिय आदि । इस प्रकार मनपर्याप्त पर्याप्त क्रम समझना चाहिए ।

जैसे छह कातने वाली स्त्रियो ने एक साथ रुई कातना प्रारम्भ किया, किन्तु उनमे से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और वारीक कातने वाली देर से पूरा करती है । इसी प्रकार पर्या-प्तियो का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु पूर्णता अनुक्रम से होती है ।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरो मे पर्याप्तिया होती हैं । उनमे इनकी पूर्णता का क्रम निम्न प्रकार समझना चाहिए—

औदारिक शरीर वाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूर्ण करता है और इसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे दूसरी, इसके बाद तीसरी। इस प्रकार चौथी, पाँचवी और छठी प्रत्येक क्रमश अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त के बाद पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूरी कर लेते हैं और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते है और उसके बाद तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी पर्याप्ति अनुक्रम से एक-एक समय मे पूरी करते है। किन्तु देव पाँचवी और छठी इन दोनो पर्याप्तियो को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय मे ही पूरी कर लेते हैं।

आहार आदि छहो पर्याप्तियो के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) जिस शक्ति से जीव बाह्य आहार पुद्गलो को ग्रहण करके खलभाग, रसभाग मे परिणमावे ऐसी शक्ति-विशेष की पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

(२) जिस शक्ति से जीव रस के रूप मे बदल दिये गए आहार को सात धातुओ के रूप मे परिणमाता है, उसकी पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

शरीर मे विद्यमान सात धातुओ के नाम क्रमश इस प्रकार हैं—(१) रस, (२), रक्त, (२) मास, (४) भेद (चर्बी), (५) हड्डी (६) मज्जा और (७) वीर्य। इन सात धातुओ मे से एक के बाद दूसरी, दूसरी से तीसरी धातु वीर्य-पर्यन्त बनती है। इन सात धातुओ के अलावा शरीर मे निम्नलिखित सात उपधातुएँ होती हैं—

(१) वात, (२) पित्त, (३) श्लेष्म (कफ), (४) शिरा, (५) स्नायु, (६) चर्म और (७) जठराग्नि।

(३) जिस शक्ति से आत्मा धातुओ के रूप मे परिणत आहार को स्पर्श आदि इन्द्रिय रूप परिणमावे। उसकी पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

(४) जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप परिणत करके और उसका सार ग्रहण करके उन्हे वापस छोडता है, उस शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(५) जिस शक्ति से जीव भाषा वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके भाषारूप परिणमावे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप मे छोडे, उसकी पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

(६) जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके मन रूप परिणमन करे और उसकी शक्ति-विशेष से उन पुद्गलो को वापस छोडे, उसकी पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते है।

आहारपर्याप्ति और शरीरपर्याप्ति मे जो आहार पर्याप्ति के द्वारा रस वनने के वाद भी शरीरपर्याप्ति द्वारा रस वनने वाले रस की शुरूआत का कथन है, उसका आशय यह है कि आहार पर्याप्ति द्वारा रस वनने की अपेक्षा शरीर पर्याप्ति द्वारा वना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है और यही रस शरीर को वनाने मे उपयोगी होता है।

आहार, शरीर और इन्द्रियो को वनाने मे जो पुद्गल उपयोगी है, उनकी अपेक्षा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्ति के पुद्गल भिन्न प्रकार के होते है।

पर्याप्तजीवो के दो भेद होते है—(१) लब्धिपर्याप्त और (२) करणपर्याप्त।

(१) जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण करके मरते है, पहले नही, वे लब्धि-पर्याप्त हैं।

(२) करणपर्याप्त के दो अर्थ है। करण का अर्थ है इन्द्रिय। जिन जीवो ने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करली है, वे करणपर्याप्त हैं। चूँकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये विना इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नही हो सकती है, इसलिए तीनो पर्याप्तियाँ ली गई है, अथवा जिन जीवो ने अपनी योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली है, वे करण-पर्याप्त कहलाते हैं।

लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त से विपरीत लक्षण वाले जीव क्रमश. लब्धि-अपर्याप्त और करण-अपर्याप्त कहलाते हैं। इनके स्वरूप का कथन आगे स्थावर दशक की प्रकृतियो मे वतलाते हैं।

अव आगे की गाथा मे प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नामकर्म के स्वरूप को वतलाते हैं।

पत्तेय तणू पत्ते उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं॥
नामुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

गाथार्थ—प्रत्येक नामकर्म के उदय से जीवो के पृथक्-पृथक् शरीर होते हैं। स्थिर नामकर्म के कारण जीवो के शरीर मे दाँत, हड्डिया आदि स्थिर होती हैं। नाभि से ऊपर के शरीर अवयव शुभ हो, वह शुभ नामकर्म है और जिसके उदय से जीव सभी लोगो को प्रिय लगता है, वह सुभग नामकर्म है।

विशेषार्थ—नामकर्म की प्रत्येक प्रकृति मे से, प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग इन चार प्रकृतियो के लक्षण गाथा मे कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर (अपने-अपने स्थान पर रहे) हो उसे स्थिर नामकर्म कहते है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर मे नाभि से ऊपर के अवयव शुभ हो, उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय मे जीव किसी प्रकार का उपकार न करने पर भी और किसी प्रकार का सम्वन्ध न होने पर भी सभी को प्रिय लगता हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

अव आगे की गाथा मे शेष रही सुस्वर, आदेय, और यश कीर्ति नामकर्म की प्रकृतियो व स्थावर दशक की प्रकृतियो का कथन करते हैं।

सुसरा मुहरसुहझुंणी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसग विवज्जत्थं ॥५१॥

गाथार्थ—सुस्वर नामकर्म के उदय से मधुर और सुस्वर ध्वनि होती है। आदेय नामकर्म के उदय से सव लोग वचन का आदर करते है। यश कीर्ति नामकर्म के उदय से यश और कीर्ति होती है और पूर्व मे कही गई त्रसदशक की प्रकृतियो से विपरीत स्थावर दशक की प्रकृतियो का अर्थ समझना चाहिए।

विशेषार्थ—त्रसदशक की सात प्रकृतियो के स्वरूप पहले दो गाथाओ मे कहे जा चुके हैं और शेष रही तीन प्रकृतियो—सुस्वर, आदेय और

यश कीर्ति के लक्षण तथा स्थावर दशक की दस प्रकृतियो के लक्षण समझने के लिए त्रसदशक की दस प्रकृतियो मे विपरीत समझने का सकेत इस गाथा मे किया गया है। विशेप विवेचन क्रमश नीचे लिखे अनुसार है—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोता को प्रिय लगता है, उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं, जैसे—कोयल आदि का स्वर।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव की ससार मे यश और कीर्ति फैले, उसे यश कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

यश.कीर्ति यह पद यश और कीर्ति दो शब्दो से निष्पन्न है। उसमे किसी एक दिशा मे प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और सव दिशाओ मे प्रशसा हो, उसे यश कहते हैं अथवा दान, तप आदि से जो नाम होता है, उसे कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है उसे यश कहते हैं। इस सम्वन्ध मे किसी कवि ने कहा है—

दान-पुण्यकृता कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः।
एक दिग्गामिनी कीर्तिः सर्वदिग्गामकं यश ॥

अव स्थावर दशक की दस प्रकृतियो का स्वरूप कहते हैं। स्थावर दशक की दश प्रकृतियो के नाम क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्त, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दुर्भग, (८) दु स्वर, (९) अनादेय और (१०) अयश कीर्ति।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे—सर्दी-गर्मी से वचने का प्रयत्न करने की शक्ति न हो, उसे स्थावर नामकर्म कहते है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति काय ये स्थावर जीव है। इनके सिर्फ प्रथम अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

तेजस्काय और वायुकाय जीवो के स्वाभाविक गति है, तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवो की तरह सर्दी-गर्मी से बचने की विशिष्ट गति उनमे न होने से उन्हे स्थावर कहते है। उन्हे स्थावर नामकर्म का उदय है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर,(जो स्वय न किसी को रोके और न किसी से रुके) प्राप्त हो, उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते है।

इस नामकर्म वाले जीव भी पूर्वोक्त पाच स्थावर ही होते हैं। वे समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हैं और आँख से नही देखे जा सकते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं। अपर्याप्त जीवो के दो भेद है—लब्ध्य-पर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये विना ही मरते है, वे लब्ध्यपर्याप्त है और जो जीव अभी अपर्याप्त हैं, किन्तु आगे की पर्याप्तिया पूर्ण करने वाले है, उन्हे करणापर्याप्त कहते है।

लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियो को पूर्ण करके ही मरते है, पहले नही। क्योकि आगामी भव की आयु का वध कर ही सव जीव मरा करते हैं और आयु का वध उन्ही जीवो को होता है, जिन्होनें आहार शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करली है।

(४) जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवो का एक ही शरीर हो, अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी वने, उसे साधारण नाम कर्म कहते है।

इन साधारण शरीर धारी अनन्त जीवो के जीवन, मरण, आहार श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होते हैं। इसीलिए वे साधारण कहलाते हैं। अर्थात् साधारण जीवो को आहारादिक पर्याप्त और उनके कार्य सदृश और समान काल मे होते है।

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीवो मे से वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक और साधारण—दोनो प्रकार के नामकर्म वाले होते हैं। उनकी पहचान के कुछ उपाय ये हैं—

जिनकी शिरा, सधि, पर्व अप्रकट हो, मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोपल, टहनी, पत्र-फूल तथा बीजो को तोडने से समान भग हों और कन्द, मूल, टहनी या स्कन्ध की छाल मोटी हो, उसको साधारण और उसके विपरीत को प्रत्येक वनस्पति समझना चाहिए।

(५) जिस कर्म के उदय से कान, भौह, जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते है, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हो, उसे अशुभ नामकर्म कहते है। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व का लक्षण है।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव उपकार करने पर भी सभी को अप्रिय लगता है, दूसरे जीव शत्रुता एव वैरभाव रखे, वह दुर्भग नामकर्म हैं।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर व वचन श्रोता को अप्रिय व कर्कश प्रतीत हो, उसे दु.स्वर नामकर्म कहते है।

(९) जिस कर्म के उदय से जीव का युक्ति-युक्त अच्छा वचन भी अनादरणीय, अग्राह्य समझा जाता है, वह अनादेय नामकर्म है।

(१०) जिस कर्म के उदय से जीव का लोक मे अपयश और अपकीर्ति फैले, उसे अपयश कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

इस प्रकार स्थावर दशक की दस प्रकृतियो के कथन के साथ नामकर्म की प्रकृतियो का कथन समाप्त हुआ। अब आगे गोत्र और अन्तराय कर्म के स्वरूप और उनके भेदो को वतलाते हैं।

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघऽभुंभलाईयं।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥५२॥

गाथार्थ—सु-घट और मद्यघट वनाने वाले कुम्भकार के कार्य के समान गोत्रकर्म का स्वभाव है। उसके दो भेद है—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इनमे विघ्न करने से अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे गोत्र कर्म का स्वभाव और भेद तथा अन्तराय कर्म के भेद वतलाये है। पहले गोत्र कर्म का वर्णन करते हैं।

गोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल मे जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते है। गोत्रकर्म के दो भेद होते है—(१) उच्च गोत्र और (२) नीचे गोत्र।[1] इनके लक्षण क्रमश. इस प्रकार है—

---

१ (क) गोए ण भन्ते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ! गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, त जहा—उच्चागोए य नीयागोए य ॥
—प्रज्ञापना, पद २३, उ० सू० २९३

(ख) उच्चैर्नीचैश्च। —तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८, सू० १२

(१) जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल मे जन्म लेता है, वह उच्च गोत्र कर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल मे जन्म लेता है, उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह उच्चकुल है, जैसे—इक्ष्वाकुवश, हरिवश, चन्द्रवश इत्यादि। अधर्म और अनीति करने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि व अकीर्ति प्राप्त की हो, वह नीचकुल है, जैसे—मद्य-विक्रेता कुल, वधक (कसाई)—कुल और चौर कुल इत्यादि।[1]

उच्च गोत्र के जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, और रूप की विशिष्टता से आठ भेद होते है और आठो की हीनता से नीच गोत्र के भी आठ भेद समझने चाहिए, जैसे—जाति-हीनता कुल-हीनता आदि।

उक्त जाति आदि आठ विशेषताओ का मद (अहकार) न करने से उच्चगोत्र का और मद करने से नीच गोत्र का बध होता है।

गोत्रकर्म कुम्भकार के सदृश है। जैसे, कुम्हार (कु भकार) छोटे-वडे विविध प्रकार के घडे बनाता है। उनमे से कुछ घडे कलश रूप

(ग) गोय कम्म तु दुविह उच्च नीय च आहिय।
उच्च अट्ठविह होइ एव नीय पि आहिय॥

—उत्तराध्ययन २३।१४

१ उच्चैर्गोत्र देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्पनिवर्तकम्।
विपरीत नीचैर्गोत्र चण्डालमुष्टिक व्याधमत्स्यवधदास्यादिनिवर्तकम्॥

—तत्त्वार्थसूत्र ८।१३ भाष्य

होते है, जो अक्षत, चन्दन आदि से पूजा योग्य होते है। कुछ घडे मद्य आदि जैसे निन्दनीय पदार्थ रखने के लिए होते है, जो निन्दनीय होते है। इसी प्रकार गोत्रकर्म के प्रभाव से कई जीव उच्च और कई नीच माने जाते हैं।

गोत्रकर्म का वर्णन किये जाने के अनन्तर अब अन्तरायकर्म का स्वरूप समझाते हैं।

अन्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (पराक्रम) मे अन्तराय विघ्न-बाधा उत्पन्न हो, उसे अन्तराय कर्म कहते है।[1] इसको विघ्न कर्म भी कहते है। अन्तराय कर्म के निम्नलिखित पाँच भेद है।

(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।[2] इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) दान की सामग्री पास मे हो, गुणवान पात्र दान लेने के लिए सामने हो, दान का फल भी ज्ञात हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नही होता है। उसे दानान्तराय कहते हैं।

---

१ जीव चार्थसाधन चान्तरा एति-पततीत्यन्तरायम्। इद चैव—
जह राया दाणाइ ण कुणइ भडारिए विकूलमि।
एव जेण जीवो कम्म त अन्तराय ति॥ —ठाणाग २।४।१०५ टीका

२. (क) अन्तराए ण भन्ते! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते? गोयमा! पचविहे पण्णत्ते तजहा—दाणतराइए, लाभतराइए भोगतराइए, उवभोगतराइए। वीरियतराइए। —प्रज्ञापना पद २३ उ० २, सू० २९३

(ख) दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र १३

(२) दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभान्तराय कहते है।

(३) भोग के साधन होते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओ का भोग नही कर सकता, उसे भोगान्तराय कहते हैं।

(४) उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे उपभोगान्तराय कहते है।

जो पदार्थ एक वार भोगे जाए, उन्हे भोग कहते है। जैसे—भोजनादि। जो पदार्थ बार-वार भोगे जाएँ, उन्हे उपभोग कहते है, जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

(५) वीर्य याने पराक्रम। जिस कर्म के उदय से जीव शक्तिशाली और नीरोग होते हुए भी कार्यविशेष मे पराक्रम न कर सके, शक्ति सामर्थ्य का उपयोग न कर सके, उसे वीर्यान्तराय कहते है।

वीर्यान्तराय के—वाल वीर्यान्तराय, पडित वीर्यान्तराय, वाल-पडित वीर्यान्तराय ये तीन भेद हैं। सासारिक कार्यो को करने की सामर्थ्य होने पर भी जीव जिसके उदय से उनको न कर सके, वह **वाल वीर्यान्तराय** है। सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखते है, किन्तु जिसके उदय से तदर्थ क्रियाओ को न कर सके, वह **पडित वीर्यान्तराय** है और देशविरति को चाहता हुआ भी जीव जिसके उदय से उसका पालन न कर सके, वह **वाल पडित-वीर्यान्तराय** है।

इस प्रकार गोत्र कर्म के स्वभाव, भेद और अन्तराय कर्म के स्वरूप और भेदो को कहने के अनन्तर आगे की गाथा मे अन्तराय कर्म का दृष्टन्त कहते है।

सिरिहरियसमं जह पडिकूलेण तेण रायाई।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवो वि ।।५३।।

गाथार्थ— अन्तराय कर्म श्रीगृही—भण्डारी के समान है। जैसे भण्डारी के प्रतिकूल होने पर राजा दानादि नही कर पाते है, उसी प्रकार अन्तराय कर्म के कारण जीव भी दानादि करने की इच्छा रखते हुए भी दानादि नही कर पाता है।

विशेषार्थ—यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्तराय कर्म के स्वभाव को समझाया है। अन्तराय कर्म का स्वभाव भण्डारी के समान है कि भण्डारी के प्रतिकूल होने पर जैसे राजा किसी याचक को दान देना चाहता है और दान देने की आज्ञा भी देता है। परन्तु भण्डारी इसमे बाधा उत्पन्न कर राजा की दान देने की इच्छा को सफल नही होने देता है। इसी प्रकार अन्तराय कर्म के लिए समझना चाहिए कि वह जीव रूपी राजा को दान, लाभ, भोग आदि की इच्छापूर्ति मे रुकावट उत्पन्न करता है।

अन्तराय कर्म का उदय देने वाले की इच्छाओ मे रुकावट डालने के समान ही लेने वाले के लिए भी प्राप्त होने योग्य वस्तु को प्राप्त होने देने मे विघ्न बाधा उपस्थित कर देता है जिससे वह उसे प्राप्त नही कर पाता है।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के भेद-प्रभेदो का कथन करने के अनन्तर आगे की गाथाओ मे ज्ञानावरण आदि कर्मो के बध के विशेष कारणो को कहते है। सर्वप्रथम ज्ञानावरण, दर्शनावरण के कारणो को बतलाते है।

पडिणीयत्तण निन्हव उवघाय पओस अतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरण दुगं जिओ जयइ ॥५४॥

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन के बारे मे प्रत्यनीकत्व—अनिष्ट आचरण, निह्नव—अपलाप, उपघात, प्रद्वेप, अन्तराय और आसातन करने से जोव ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का उपार्जन करता है ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कर्मवध के मुख्य हेतु है। उनका यथास्थान विस्तृत स्पष्टीकरण किया गया है। यहा आठ कर्मो के पृथक्-पृथक् साधारण हेतुओ को कहते है। यहाँ गाथा मे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म बंध के साधारण हेतुओ का कथन किया गया है, जो इस प्रकार है—

प्रत्यनीकत्व—अनिष्ट आचरण, निह्नव-अपलाप, छिपाना, उत्सूत्र प्ररूपणा करना, उपघात-विनाश, प्रद्वेष, द्वेष, अरुचि-ईर्ष्या, अन्तराय-विघ्न, आसातना—निन्दा, अवर्णवाद—ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के वध के कारण है। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनो के प्रतिकूल, आचरण करना प्रत्यनीकत्व कहलाता है।

(२) मान वश ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना, अमुक के पास पढ कर भी मैंने इनसे नही पढा अथवा अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नहीं जानता—उत्सूत्र प्ररूपणा करना, इस प्रकार के अपलाप को—निह्नव कहते है।

(३) ज्ञानियो और ज्ञान के साधनो—पुस्तक, पाठशाला आदि का शस्त्र, अग्नि आदि से नाश कर देना उपघात है।

(४) ज्ञानियो और ज्ञान के साधनो पर प्रेम न रखकर द्वेप रखना अरुचि रखना प्रद्वेष है।

(५) ज्ञानाभ्यास के साधनो मे रुकावट डालना, विद्यार्थियो को विद्या, भोजन, वस्त्र, स्थान आदि लाभ होता हो तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास छुडाकर उनसे अन्य काम करवाना अन्तराय कहलाता है।

(६) ज्ञानियो की निन्दा करना, उनके वारे मे झूठी-झूठी वाते कहना या मर्मच्छेदी वाते लोक मे फैलाना, उन्हे मार्मिक पीडा हो, ऐसा कपट-जाल फैलाना आशातना है।

पूर्वोक्त कार्यों के सिवाय निषिद्ध काल, स्थान आदि मे अभ्यास करना, गुरु का विनय न करना, पुस्तको आदि को पैरो के हटाना, पुस्तको का सदुपयोग न होने देना आदि तथा इसी प्रकार अन्य कारण व कार्यों के द्वारा ज्ञानादि के प्रति उपेक्षा भाव दर्शानेवाले कार्यों को करने से ज्ञानावरण कर्म का वध होता है।

ऊपर जो ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनो के वारे मे अनिष्ट आचरण करना आदि कारण वतलाये गये है, वैसे ही दर्शन, दर्शनी-साधु, और दर्शन के साधनो के वारे मे अनिष्ट आचरण करने से दर्शनावरण कर्म का वन्ध होता है।

ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण है। इसलिए ज्ञान और ज्ञान के साधनो, दर्शन और दर्शन के साधनो के प्रति किंचिन्मात्र भी असावधानी व उपेक्षा दिखाना अपना ही घात करना है। अत जिन गुणो के प्राप्त करने मे आनन्द मिलने वाला है, उन गुणो के अभिमुख होने के लिए जिन कामो को नही करना चाहिए, वे यहा वतलाये गये है। इसी प्रकार के अन्य विघातक कार्यों का भी इन्ही मे समावेश कर लेना चाहिए।

अब आगे की गाथा मे क्रम प्राप्त वेदनीय कर्म के वन्ध के कारणो को कहते है ।

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

गाथार्थ—गुरु-भक्ति, क्षमा, करुणा, व्रत, योग, कषाय—विजय, दान करने और धर्म मे स्थिर रहने से सातावेदनीय का और इसके विपरीत प्रवृत्ति करने से असातावेदनीय कर्म का वन्ध होता है ।

विशेषार्थ—गाथा मे वेदनीय कर्म के दोनो भेद सातावेदनीय, और असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारणो को बतलाया है ।

साता का अर्थ है सुख और असाता का अर्थ है दु ख । जिस कर्म के उदय से सुख हो, वह सातावेदनीय और जिस कर्म के उदय से दु.ख हो, वह असातावेदनीय है । सातावेदनीय पुण्य और असातावेदनीय पाप है । अत सुख को करने वाले और दूसरो को सुख पहुँचाने वाले[1] कार्यो के द्वारा सातावेदनीय और दुख के निमित्त जुटाने से असाता-वेदनीय कर्म का वध होता है । अत सातावेदनीय और असातावेदनीय के वन्ध होने के कारणो को गाथा मे वताया है. जो इस प्रकार है—

गुरु-भक्ति. क्षमाशीलता, दयालुता, व्रतयुक्तता, सयम साधना, कषायविजय, दान, भावना और धार्मिक श्रद्धा की दृढता से सातावेदनीय कर्म का वन्ध होता है । इसी प्रकार गाथा मे जो आदि शब्द है, उससे वृद्ध वाल, ग्लान आदि की सेवा—वैयावृत्य करना, धर्मात्माओ को उनके धार्मिक कृत्य मे सहायता पहुँचाना, मैत्री, प्रमोद आदि भावना

---

१ समाहि कारए ण तमेव समाहिं पडिलब्भइ ।
—समाधि पहुँचानेवाला समाधि प्राप्त करता है । —भगवती ७।१

रखना, लोकोपकारी कार्यों को करना इत्यादि का और ग्रहण कर लेना चाहिए। गाथा मे आगत शब्दो के अर्थ क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) गुरुजनो (माता-पिता, धर्माचार्य, विद्या पढाने वाले, शिक्षा गुरु, ज्येष्ठ भाई, बहन आदि) की सेवा, आदर, सत्कार करना गुरु-भक्ति है।

(२) क्षमा करना अर्थात् बदला लेने की शक्ति होते हुए भी अपने साथ बुरा बर्ताव करने वाले के अपराधो को सहन करना। क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध भाव पैदा न होने देना—क्षमा-शीलता है।

(३) प्राणिमात्र पर करुणाभाव रखना, उनके दु खो को दूर करने का प्रयत्न करना दयालुता है।

(४) हिसादि पापो से विरत होना व्रत है। अणुव्रतो या महाव्रतो का पालन करना व्रतयुक्तता है।

(५) योग का पालन करना अर्थात् साध्वाचार का पालन करना। चक्रवाल आदि दस प्रकार की साधु समाचारी को सयम योग कहते हैं।

(६) क्रोधादि कषायो के कारण उपस्थित होने पर भी उन्हे नही होने देना और कषायो पर विजय पाना कषाय-विजय है।

(७) सुपात्र की आवश्यकतानुसार दान देना, साधन जुटाना, दान-युक्तता है। जैसे रोगी को औषध देना, भयभीत को निर्भय बनाना और भय के कारणो को हटाना, विद्यार्थियो को विद्या के साधनो आदि को जुटाना और भूखे को भोजन देना तथा इनसे सम्बन्धित अन्य कार्यो को करना।

(८) आत्मिक गुणो—सम्यक् ज्ञानदर्शन चारित्र मे अपने आपको

स्थिर करना तथा इनमे स्थिरता लाने के लिए नीतिमय जीवन, ईमानदारी, वीतराग के वचनो मे दृढता रखना धर्म मे दृढता रखना है।

यहा सातावेदनीय कर्म के वन्ध के कुछ कारण वतलाये है। इनसे विपरीत कार्य करने, भावना रखने से असातावेदनीय कर्म का वन्ध होता हैं, जैसे—गुरुजनो का आदर न करना, निरपराधी को दण्ड देना, क्रूर परिणाम रखना, तीव्रकषाय युक्त होना आदि। दु ख, शोक, सताप आदि पैदा करने वाले कार्यो से आत्मा असातावेदनीय कर्म का वन्ध करता है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म के दोनो भेदो—सात और असात वेदनीय के साधारण बधकारणो का कथन करने के वाद आगे मोहनीय कर्म के बध के कारणो को वतलाते है। सवसे पहले दर्शन मोहनीय कर्म के वध कारणो को कहते है।

उम्मग्गदेसणामग्गनासणा देवदव्वहरणेहि ।
दंसणमोह जिणमुणिचेइय संघाइ पडिणीओ ॥५६॥

गाथार्थ—उन्मार्ग का उपदेश देने और सन्मार्ग का अपलाप करने, देवद्रव्य का हरण करने और जिन केवली, मुनि, चैत्य, सघ आदि के विरुद्ध आचरण करने से दर्शन मोहनीय कर्म का वध होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे दर्शन मोहनीय कर्म के वध हेतुओ मे से कुछ एक का सकेत किया गया है, जो इस प्रकार हैं—उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग-नाश, देवद्रव्यहरण, जिन, मुनि, चैत्य, सघ, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि के विरुद्ध प्रवृत्ति-व्यवहार करने से दर्शनमोहनीय कर्म का वध होता है। कारणो की व्याख्या निम्न प्रकार है—

(१) ससार के कारणो और कार्यो का मोक्ष के कारणो के रूप मे उपदेश देना उन्मार्ग देशना है, जैसे—देवी देवताओ के सामने

पशुओ की बलि (हिंसा) करने मे पुण्य बताना। मिथ्यादर्शन आदि को मोक्ष का साधन कहना आदि। इसी प्रकार के अन्य कारणो को समझना चाहिए।

(२) ससार निवृत्ति और मुक्ति प्राप्ति के मार्ग का अपलाप करना—मार्गनाश है, जैसे—न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, जो कुछ सुख है, वह इसी जीवन मे है। खाओ—पीओ, मौज उडाओ। न पुनर्जन्म है। तप करके शरीर सुखाना है। आध्यात्मिक साहित्य पढने मे व्यर्थ समय गवाना है आदि उपदेश देकर भोले जीवो को सन्मार्ग से हटाना।

(३) देव याने ज्ञान-दर्शनादि गुण सयुक्त स्वय आत्मा और इसी सरीखे अन्य जीव, इनके उपयोगी द्रव्य को देवद्रव्य कहते है। प्राणि-रक्षा के उपयोग मे आने वाले द्रव्य का हरण करना, अपव्यय करना, व्यवस्था न करना, देवद्रव्य-हरण कहलाता है। लौकिक दृष्टि से देव के लिए अर्पित द्रव्य की चोरी करना, उसे अपने उपयोग मे लाना, व्यवस्था करने मे प्रमाद करना, दूसरा दुरुपयोग करता हो तो सामर्थ्य होते हुए भी मौन रहना देवद्रव्यहरण कहलाता है। इसीप्रकार ज्ञान-द्रव्य—शास्त्र व उनके भण्डारो आदि धर्मस्थानो के निमित्त द्रव्य का हरण भी समझ लेना चाहिए।

(४) जिन भगवान, निरावरण केवलज्ञानी की निन्दा करना, सर्व दोषो से उन्मुक्त होने पर भी उनमे दोप बताना, जैसे कि 'दुनिया मे कोई सर्वज्ञ हो ही नही सकता है।' समवशरण मे छत्र, चामर आदि का उपयोग करने से उनको वीतराग न कहना, जिननिन्दा कहलाती है।

(५) पच महाव्रतधारी रत्नत्रय से विभूषित साधु मुनिराजों की निन्दा करना, असद्भूत दोषो का आरोप लगाना साधु निन्दा है।

(६) ज्ञान दर्शन चारित्र सम्पन्न गुणी महात्मा तपस्वी आदि की निन्दा करना चैत्य निन्दा करना कहलाता है और लौकिक दृष्टि से स्मारक, स्तूप, प्रतिमा आदि की निन्दा करना, उन्हे हानि पहुँचाना भी चैत्य निन्दा समझना चाहिए।

(७) साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप सघ की निन्दा करने, गर्हा करने को, सघ निन्दा कहते हैं।

इनके सिवाय गाथा मे आये आदि शब्द से आगम, गुरुजनो, धर्म आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। उनके प्रतिकूल आचरण करने, निन्दा करने, अवर्णवाद फैलाने से भी दर्शन मोहनीय कर्म का वध होता है।

दर्शन मोहनीय कर्म के वध कारणो को वतलाकर अव आगे की गाथा मे चारित्र मोहनीय और नरकायु कर्म के वध कारणो को कहते हैं।

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइ विसय विवसमणो।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥५७॥

गाथार्थ—क्रोधादि कषायों और हास्यादि नोकषायो तथा विषयो मे अनुरक्त जीव दोनो प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्म का वध करते हैं तथा वहु आरम्भी, वहुपरिग्रही और रौद्र परिणाम वाला जीव नरक-आयु का वध करता है।

विशेषार्थ—गाथा मे चारित्र मोहनीय कर्म के कषाय और नो कषाय, मोहनीय तथा आयु कर्म के चार भेदो मे से नरकायु के वध कारणो को वतलाया है। पहले चारित्र मोहनीय के दोनो प्रकारो के वध कारणो को वतलाते हैं।

चारित्र मोहनीयकर्म कषाय और नोकषायमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। इनमे कपाय मोहनीय के अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ से लेकर सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ पर्यन्त सोलह भेद तथा नोकषाय मोहनीय के हास्य से लेकर नपुसक वेद पर्यन्त नौ भेद पहले कहे जा चुके हैं। उनका कपाय के उदय से होने वाले जीव के तीव्र परिणामो से वध होता है और पृथक्-पृथक् कषायो के वध के वारे मे इस प्रकार समझना चाहिए।

(१) अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से व्याकुल मन वाले जीव अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषायो के सोलह भेदो का वंध करते है।

(२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के उदय से पराधीन हुआ जीव अप्रत्यारख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोधादि वारह कषायो को वाधता है।

(३) प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के उदय से ग्रस्त जीव प्रत्याख्यानावरण व सज्वलन क्रोधादि आठ कपायो को वाधता है।

(४) सज्वलन क्रोधादि युक्त जीव सिर्फ सज्वलन क्रोधादि चार कषायो का वध करता है।

यहा यह समझ लेना चाहिए कि क्रोध, मान, माया, और लोभ—इन चारो कषायो का एक साथ उदय नही होता है, किन्तु चारो मे से किसी एक का उदय होता है। अनन्तानुवधी आदि चारों प्रकार के कषाय भेदो मे से जिस कपाय प्रकार का उदय होगा, उस सहित आगे के प्रकार भी साथ मे रहेगे, किन्तु पूर्व का नही रहेगा। जैसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय प्रकार का उदय होने पर उस सहित प्रत्या-

ख्यानावरण, सज्वलन प्रकारो का उदय हो सकता है, किन्तु अनन्तानुवधी कषाय का नही होगा। इसीप्रकार प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन कषाय प्रकार के वारे मे भी समझ लेना चाहिए।

कषायो के वध के वारे मे कथन करने के वाद अव नोकषायो के वध के वारे मे समझाते हैं कि हास्यादि नोकषायो से व्याकुल चित्तवाला जीव हास्यादि छह नोकषायो को वाँधता है, जैसे कि—

(क) भाँडो-जैसी चेष्टा करने वाला, दूसरो की हँसी उडाने वाला, वकवाद करने वाला जीव हास्यमोहनीय कर्म का वध करता है।

(ख) चित्र-विचित्र दृश्यो को देखने मे रुचि रखने, उनके प्रति उत्सुकता दर्शाने आदि की वृत्तियुक्त जीव रति मोहनीयकर्म को वाँधता है।

(ग) ईर्ष्यालु, पापी, दूसरो को दुखी करने वाला, वुरे कर्मों के लिए दूसरो को उत्साहित करने वाला जीव अरति मोहनीय कर्म का वध करता है।

(घ) स्वय डरने वाला, दूसरो को भय पैदा करने वाला, त्रास देने वाला, निर्दय जीव भय मोहनीय कर्म को वाँधता है।

(ङ) स्वय शोकग्रस्त रहने वाला और दूसरो को भी शोक उत्पन्न करने वाला जीव शोक मोहनीय कर्म का वध करता है।

(च) चतुर्विध सघ की, सदाचार आदि की निन्दा करने वाला, घृणा करने वाला जुगुप्सा मोहनीय कर्म का वध करता है।

हास्यादि छह नोकषायो के वध हेतुओ के कथन के वाद स्त्रीवेद आदि वेद मोहनीय कर्मों के वंध कारणो को वतलाते हैं।

(क) ईर्ष्यालु, विषयो मे आसक्त, अतिकुटिल, स्त्री लपट जीव स्त्रीवेद को वाँधता है।

(ख) स्वदार-सतोषी, मदकषायी, सरल, शीलव्रत युक्त जीव पुरुपवेद का बध करता है।

(ग) तीव्र विषयाभिलाषी, नैतिकता की मर्यादा भग करने वाला आदि जीव नपुसकवेद का बध करता है।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के बँध हेतुओ का कथन करके आयुकर्म के चार भेदो मे से नरकायु के बध के कारणो को बतलाते है।

बहुत आरभ करने, बहुत परिग्रह रखने, उसके सग्रह की चिन्ता मे डूबे रहने, रौद्र परिणामो और पचेन्द्रिय प्राणियो की हत्या करने, मास-भक्षण, बार-बार मैथुन सेवन करने, दूसरे के धन का अपहरण करने आदि-आदि कारणो से जीव को नरकायु का बध होता है।

अब आगे की गाथा मे तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बध हेतुओ का कथन करते हैं।

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

गाथार्थ—गूढ हृदय, शठ, सशल्य तिर्यंचायु का तथा प्रकृति से मद कषाय वाला, दान मे रुचि रखने वाला और मध्यम गुण वाला मनुष्यायु का बध करता है।

विशेषार्थ—गाथा मे क्रमश तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बध के कारणो को बतलाया है। तिर्यंचायु के बध के कारणो का कथन करते हुए कहा है कि गूढहृदय अर्थात् जिसके मन की बात का पता न लग सके, शठ—मीठा बोलने का प्रदर्शन करते हुए भी मन मे कपट भाव रखने वाला, सशल्य—अपने दोष, पाप कर्मो को छिपाने के लिए सदैव चौकन्ना रहने वाला और इसमे चतुराई समझने वाला जीव तिर्यंचायु का बध करता है।

लेकिन जो जीव सरल हृदय वाला है, अल्प आरंभी और अल्प परिग्रही है, दान देने मे उत्साह रखने वाला है, मदकपाय वाला होने से जीव मात्र के प्रति दया, क्षमा, मार्दव आदि भाव रखने वाला है, वह मनुष्यायु का वध करता है।

गाथा मे जो 'मज्झिम गुणो' पद आया है, उसका अर्थ यह है कि अधम गुणो से नरकायु का और उत्तम गुणो से देवायु का वध होता है और जो जीव मध्यम गुण वाला है, वह मनुष्यायु का वध करता है।

अब आगे की गाथा मे देवआयु और नामकर्म की शुभ एव अशुभ प्रकृतियो के वध के कारणो को वतलाते हैं।

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि तथा वालतप, अकाम निर्जरा करने वाला जीव देवायु का वध करता है। सरल परिणाम वाला एव निरभिमानी जीव शुभ नामकर्म की प्रकृतियो का तथा इसके विपरीत वृत्तिवाला जीव अशुभ नामकर्म की प्रकृतियो का वध करता है।

विशेषार्थ—गाथा मे क्रमशः देवायु और नामकर्म की शुभ और अशुभ प्रकृतियो के वंध कारणो को वतलाया है। उनमें से देवायु के वधकारण इस प्रकार हैं—

मनुष्य और तिर्यंच ही देवायु के वध की योग्यता रखते हैं और उनमे भी वही, जो कम-से-कम सम्यग्दृष्टि हैं। अर्थात् व्रत आदि का पालन करने मे असमर्थ होते हुए भी जो मनुष्य या तिर्यंच सम्यग्दर्शन

सहित हैं, वे देवायु का बध करते है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए गाथा मे अविरत पद दिया है। अविरत के साथ ही जो आदि शब्द दिया है, उसका आशय यह है कि देशविरति, सराग संयमी भी देवायु का वध करने की सामर्थ्य वाले हैं। साराश यह है कि अविरति सम्यग्दृष्टि, देशविरति मनुष्य और तिर्यचो तथा सराग सयमी मनुष्यो के देवायु का वध हो सकता है।

वालतपस्वी, अर्थात् आत्मस्वरूप को न समझकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाले मिथ्यादृष्टि भी देवायु का वध कर सकते हैं।

अज्ञान से भूख-प्यास, सर्दी-गरमी आदि को सहन करना, स्त्री की अप्राप्ति से शील को धारण करना इत्यादि कारणो से जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे अकाम निर्जरा कहते है। अकाम निर्जरा अर्थात् इच्छा के न होते हुए अनायास ही जिसके कर्म की निर्जरा हुई है, ऐसा जीव देवायु का वध कर सकता है।

देवायु के वध के कारणो को वतलाने के वाद अव नामकर्म की शुभ और अशुभ प्रकृतियो के वध के कारणो को वतलाते है। नामकर्म की शुभ प्रकृतियो का वध वे जीव करते हैं, जो सरल अर्थात् छल-कपट रहित है, यानी जिनके मन, वचन, काया की प्रवृत्ति मे एकरूपता है, गौरव रहित हैं, अर्थात् जिनको अपनी ऋद्धि, वैभव, शरीर, सौन्दर्य आदि का अभिमान नही है, वे जीव नामकर्म की शुभ प्रकृतियो का वन्ध करते हैं।

गौरव के तीन प्रकार है—ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातगौरव।

(क) धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य को ऋद्धि कहते हैं। उससे अपने को महत्त्वशाली समझना ऋद्धि-गौरव है।

(ख) मधुर, अम्ल आदि रसो से अपना गौरव समझना रसगौरव कहलाता है।

(ग) शरीर के स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि का अभिमान करना सात-गौरव कहलाता है।

इसी प्रकार पाप से डरने वाला, क्षमा, दया, मार्दव आदि गुणो से युक्त जीव शुभ नामकर्म को वाधता है।

जिन कार्यो के उदय से नामकर्म की शुभप्रकृतियो का वन्ध होता है,उनके विरुद्ध कार्य करने वाला जीव अशुभ प्रकृतियो का वन्ध करता है। जैसे माया, छल-कपट, अपनी प्रशसा और दूसरे की निन्दा करना, झूठी साक्षी देना, शपथ लेना, देवद्रव्य, सार्वजनिक सपत्ति आदि का दुरु-पयोग करना, अपहरण करना आदि दुष्ट प्रवृत्तियो से नामकर्म की अशुभ प्रकृतियो का वन्ध होता है। साराश यह है कि अनैतिक आचार-विचार से नरकगति, अयश कीर्ति, एकेन्द्रिय जाति आदि अशुभ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

नामकर्म के अनन्तर क्रम प्राप्त गोत्रकर्म के वन्ध कारणो को आगे की गाथा मे कहते हैं।

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइ भत्तो उच्च नीयं इयरहा उ ॥६०॥

गाथार्थ—गुणो को देखने वाला, निरभिमानी, अध्ययन-अध्या-पन मे रुचि रखने वाला और जिन भगवान् का भक्त जीव उच्च गोत्र का तथा इससे विपरीत वृत्ति वाला जीव नीच गोत्र का वन्ध करता है।

विशेषार्थ—गोत्रकर्म के दो भेद हैं—(१) उच्चगोत्र और (२) नीचगोत्र। गाथा मे दोनो भेदो के वध हेतुओ को वतलाया है। उनमे

से उच्चगोत्र के बध हेतुओ को वतलाते हुए कहा है कि जो जीव गुण-प्रेक्षी है, अर्थात् किसी व्यक्ति मे दोषो के रहते हुए भी, उनके वारे मे उदासीन होकर सिर्फ गुणो को देखने वाले हैं, गुणो के प्रशसक है, जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपमद—इन आठो प्रकार के मदो से रहित हैं, अर्थात् उक्त बातो का अभिमान नही करते है। सदैव सत्साहित्य के पढने-पढाने मे रुचि रखने वाले है और जिनेन्द्र भगवान, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु, माता-पिता और गुणी जनो की भक्ति करने वाले है वे उच्चगोत्र कर्म का वन्ध करते हैं।

जिन कृत्यो से उच्चगोत्र का बन्ध होता है, उनसे उल्टे कार्यो को करने से जीव नीचगोत्र कर्म का वन्ध करते है। अर्थात् दूसरो के दोषो को देखने से, जाति, कुल आदि का अभिमान करने से पठन-पाठन मे अरुचिभाव रखने से और जिनेन्द्र भगवान, तीर्थङ्कर, गुरु माता-पिता आदि महापुरुषो मे भक्ति न रखने आदि कारणो से नीच गोत्र का बन्ध होता है।

इस प्रकार गोत्र कर्म के वन्ध कारणो का कथन करने के वाद आगे की गाथा मे अन्तराय कर्म के वन्ध हेतुओ का कथन कर ग्रथ समाप्त करते है।

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घ।
इय कम्मविवागोय लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥६१॥

गाथार्थ—जिन भगवान् की पूजा मे विघ्न करने वाले, हिंसा आदि पापो मे तत्पर जीव अन्तराय कर्म का वध करते है। इस प्रकार श्री देवेन्द्र सूरि ने इस 'कर्म विपाक' नामक ग्रथ की रचना की है।

विशेषार्थ—पहले की गाथाओ मे क्रमश ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के बन्ध हेतुओ का वर्णन किये जाने के पश्चात् इस गाथा के पूर्वार्द्ध मे अन्तरायकर्म के बन्ध हेतुओ का और उत्तरार्द्ध मे ग्रथ समाप्ति का सकेत किया गया है।

अन्तराय कर्म का बन्ध उन जीवो को होता है जो जिन भगवान की पूजा मे विघ्न डालते है, अर्थात् जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद करने से, उनके द्वारा प्ररुपित धर्म की निन्दा करने से, गुणो का सकीर्तन करने मे रुकावट डालने से आत्मकल्याण के साधक व्रत, तप, सयम की ओर अग्रसर होने वालो को निरुत्साहित करने से तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्य करने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है। साथ ही हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह रूप पापो को स्वय करने, दूसरो से कराने और करते देख प्रसन्न होने, अनुमोदना करने से दानादि कार्यों मे विघ्न डालने आदि से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

इस प्रकार कर्मों के स्वरूप, भेदो, बन्ध हेतुओ का सामान्य रूप से कथन करने वाला श्री देवेन्द्र सूरि विरचित 'कर्म विपाक' नामक ग्रथ समाप्त हुआ।

॥इति 'कर्म विपाक' नामक प्रथम कर्मग्रथ ॥

परिशिष्ट

कर्म की मूल एव उत्तरप्रकृतियो की सख्या तथा नाम

कर्म की मूल प्रकृतियां—८

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अतराय।

अष्ट कर्मों की उत्तर प्रकृतियां—१५८

(१) ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतिया—५

(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मन पर्याय ज्ञानावरण, (५) केवल ज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां—९

(१) चक्षुदर्शनावरण, (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधि-दर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रा-निद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।

(३) वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतिया—२

(१) साता वेदनीय, (२) असातावेदनीय।

(४) मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतिया—२८

मुख्य भेद—(१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के प्रभेद—३

(१) सम्यक्त्व मोहनीय, (२) मिश्रमोहनीय तथा (३) मिथ्यात्व मोहनीय।

चारित्र मोहनीय के प्रभेद—२५ (कषाय १६, नोकषाय—९)

कषाय—(४) अनन्तानुवधी क्रोध, (५) अनन्तानुबधी मान,

(६) अनन्तानुवधी माया, (७) अनन्तानुवधी लोभ, (८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, (९) अप्रत्याख्यानावरण मान, (१०) अप्रत्याख्यानावरण माया, (११) अप्रत्याख्यानावरण लोभ, (१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, (१३) प्रत्याख्यानावरण मान, (१४) प्रत्याख्यानावरण माया, (१५) प्रत्याख्यानावरण लोभ, (१६) सज्वलन क्रोध, (१७) सज्वलन मान, (१८) सज्वलन माया, (१९) सज्वलन लोभ।

नोकषाय—(२०) हास्य, (२१) रति, (२२) अरति, (२३) शोक, (२४) भय, (२५) जुगुप्सा, (२६) पुरुष वेद, (२७) स्त्रीवेद, (२८) नपुसक वेद।

(५) **आयु कर्म की उत्तर प्रकृतिया—४**

(१) देवायु, (२) मनुष्यायु, (३) तिर्यचआयु, (४) नरकायु।

(६) **नाम कर्म की उत्तर प्रकृतिया—१०३**

गति—(१) नरकगति, (२) तिर्यचगति, (३) मनुष्यगति, (४) देवगति।

जाति—(५) एकेन्द्रिय, (६) द्वीन्द्रिय, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, (९) पचेन्द्रिय।

शरीर—(१०) औदारिक शरीर, (११) वैक्रिय शरीर, (१२) आहारक शरीर (१३) तैजस् शरीर, (१४) कार्मण शरीर।

अगोपाग—(१५) औदारिक अगोपाग, (१६) वैक्रिय अगोपाग, (१७) आहारक अगोपाग।

बधन—(१८) औदारिक-औदारिक बधन, (१९) औदारिक-तैजस बधन, (२०) औदारिक-कार्मण बधन, (२१) औदारिक-तैजस कार्मण बधन, (२२) वैक्रिय-वैक्रिय बधन, (२३) वैक्रिय-तैजस बधन, (२४) वैक्रिय-कार्मण बधन, (२५) वैक्रिय-तैजस कार्मण बधन, (२६) आहा-

रक-आहारक वधन (२७) आहारक-तैजस वधन, (२८) आहारक—कार्मण वंधन, (२९) आहारक-तैजस कार्मण वधन, (३०) तैजस-तैजस वधन, (३१) तैजस—कार्मण वधन, (३२) कार्मण-कार्मण वधन।

सघातन—(३३) औदारिक सघातन, (३४) वैक्रिय सघातन, (३५) आहारक सघातन, (३६) तैजस सघातन, (३७) कार्मण सघातन।

सहनन—(३८) वज्रऋषभनाराच सहनन, (३९) ऋषभनाराच सहनन, (४०) नाराच सहनन, (४१) अर्धनाराच सहनन, (४२) कीलिका सहनन, (४३) सेवार्त सहनन।

सस्थान—(४४) समचतुरस्र सस्थान, (४५) न्यग्रोध सस्थान, (४६) सादि सस्थान, (४७) वामन सस्थान, (४८) कुब्जसस्थान, (४९) हुण्ड सस्थान।

वर्ण—(५०) कृष्णवर्ण, (५४) नीलवर्ण, (५२) लोहित वर्ण, (५३) हारिद्रवर्ण, (५४) श्वेतवर्ण।

गंध—(५५) सुरभिगध, (५६) दुरभिगध।

रस—(५७) तिक्त रस, (५८) कटुरस, (५९) कषाय रस, (६०) आम्लरस, (६१) मधुररस।

स्पर्श—(६२) कर्कश स्पर्श, (६३) मृदुस्पर्श, (६४) गुरु स्पर्श, (६५) लघुस्पर्श, (६६) शीतस्पर्श, (६७) उष्ण स्पर्श, (६८) स्निग्ध स्पर्श, (६९) रूक्ष स्पर्श।

आनुपूर्वी—(७०) नरकानुपूर्वी, (७१) तिर्यंचानुपूर्वी, (७२) मनुष्यानुपूर्वी, (७३) देवानुपूर्वी।

विहायोगति—(७४) शुभ विहायोगति, (७५) अशुभ विहायोगति

प्रकृतियाँ तथा पूर्वोक्त ८ पिड प्रकृतियो के ३५ भेदो के अतिरिक्त जो बधन और सघातन नामकर्म को शरीर नाम कर्म मे ग्रहण कर लिया था, उन दोनो के होने वाले ५, ५ उत्तर भेदो तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श के होने वाले क्रमश ५, २, ५, ८ उत्तर भेदो को मिलाने से ६३ भेद होते है।)—

बधन ५—औदारिक बधन, वैक्रिय बधन, आहारक बंधन, तैजस बधन, कार्मण बधन।

सघातन ५—औदारिक सघातन, वैक्रिय सघातन, आहारक सघातन, तैजस् सघातन, कार्मण सघातन।

वर्ण ५—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्ल।

गध २—सुरभि, दुरभि।

रस ५—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर।

स्पर्श ८—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष।

१०३ भेद—(पूर्वोक्त ६३ भेदो मे जो बधन के ५ भेद ग्रहण किये गये हैं, उनके बजाय निम्नोक्त १५ भेद गिनने पर १०३ भेद नाम कर्म के होते हैं।

बधन १५—औदारिक, औदारिक बधन, औदारिक-तैजस बधन, औदारिक-कार्मण बधन, औदारिक-तैजस कार्मण बधन, वैक्रिय-वैक्रिय बधन, वैक्रिय-तैजस-बधन, वैक्रिय-कार्मण बधन, वैक्रिय-तैजस कार्मण बधन, आहारक-आहारक बधन, आहारक-तैजस बधन, आहारक-कार्मण बधन, आहारक-तैजस कार्मण बधन, तैजस-तैजस बधन, तैजस-कार्मण बधन, कार्मण-कार्मण बधन।

अर्थात् ६३ प्रकृतियो मे बधन के पाच भेद के स्थान पर १५ भेद जोड़ने से १०३ भेद होते हैं।

(६३—५=८८+१५=१०३)

☆

बंध, उदय-उदीरणा एवं सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या

(१) वधयोग्य प्रकृतिया—१२०

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २६, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५ ।

५+६+२+२६+४+६७+२+५=१२०

(२) उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतिया—१२२

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५ ।

५+६+२+२८+४+६७+२+५=१२२

(३) सत्तायोग्य प्रकृतिया १५८ अथवा १४८

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम १०३ अथवा ६३, गोत्र २, अन्तराय ५ ।

५+६+२+२८+४+१०३/६३+२+५=१५८/१४८

प्रत्येक प्रकृतियां—(७६) पराघात, (७७) उच्छ्वास, (७८) आतप (७९) उद्योत, (८०) अगुरुलघु, (८१) तीर्थङ्कर, (८२) निर्माण, (८३) उपघात (८४) त्रस, (८५) वादर, (८६) पर्याप्त, (८७) प्रत्येक, (८८) स्थिर, (८९) शुभ, (९०) सुभग, (९१) सुस्वर (९२) आदेय, (९३) यश कीर्ति, (९४) स्थावर, (९५) सूक्ष्म, (९६) अपर्याप्त, (९७) साधारण, (९८) अस्थिर, (९९) अशुभ, (१००) दुर्भग, (१०१) दु स्वर, (१०२) अनादेय, (१०३) अयश कीर्ति।

(७) गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतिया—२

(१) उच्चगोत्र, (२) नीचगोत्र।

(८) अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतिया—५

(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय।

नामकर्म की प्रकृतियों की गणना का विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञानावरणादि आठ कर्मो की उत्तर प्रकृतियो की गणना मे नामकर्म को छोडकर जिनकी जितनी सख्या वतलाईहै उतने ही उन-उन के उत्तर भेदो के नाम निर्दिष्ट हैं। लेकिन नामकर्म के ४२, ६७, ९३ और १०३ उत्तर भेदो की सख्या ग्रथो मे बताई गई है। इनमे अधिक, मध्यम, और अल्प दृष्टिकोण से यह सख्या भिन्नता है। उनकी गणना मे क्रम इस प्रकार समझना चाहिए।

४२ भेद १४ पिड प्रकृतियाँ, १० त्रसदशक, १० स्थावर दशक और ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ नाम ये है—

१४ पिडप्रकृतियां—गति, जाति, शरीर, अगोपाग, बधन, सघातन, सहनन, सस्थान, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, विहायोगति।

१० त्रस दशक—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति ।

१० स्थावर दशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति ।

८ प्रत्येकाष्टक—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरु 'लघु, तीर्थङ्कर, निर्माण, उपघात ।

६७ भेद—(इसमे १० त्रस दशक, १० स्थावर दशक और ८ प्रत्येकाष्टक प्रकृतिय के नाम पूर्वोक्तवत् है ।) १४ पिंड प्रकृतियों मे से वधन और सघातन नामकर्म के भेदो को शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया है। शेष रही १२ पिंड प्रकृतियो मे से वर्ण, गध, रस, स्पर्श के भेद न करके शेष ८ प्रकृतियो के भेद ३५ होते है। उनको ग्रहण करने से ६७ भेद हो जाते है। १२ पिंड प्रकृतियो के ३९ भेद ये है—

गति ४—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ।

जाति ५—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय ।

शरीर ५—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण।

अगोपाग ३—औदारिक अगोपाग, वैक्रिय अगोपाग, आहारक अगोपाग ।

सहनन ६—वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्ध-नाराच, कीलिका, सेवार्त ।

सस्थान ६—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्जक, हुण्डक ।

आनुपूर्वी ४—नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ।

विहायोगति २—शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति ।

९३ भेद (इसमे १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक, ८ प्रत्येक

कर्मबन्ध के विशेष कारण-सम्बन्धी आगम पाठ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के सद्भाव से ससारी जीव सदैव कर्मबन्ध करता रहता है। इसीलिए इन्हे सामान्य से कर्मबन्ध का कारण कहा जाता है। लेकिन इनकी विद्यमानता रहने के साथ ही किन्ही विशेष कारणो से उस-उस कर्म का विशेष रूप से बध होता है और उन्हे उस-उस कर्म बध का विशेष कारण कहते हैं।

ग्रथ मे ग्रथकार ने विभिन्न कर्मों के बध-विषयक विशेष कारणों का सकेत किया है। इन कारणो के कथन का आधार आगम हैं। अत विशेष बध कारण सम्बन्धी आगमगत पाठो को पाठको की जानकारी के लिये यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आगम पाठ निम्न प्रकार हैं—

(१-२) **ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय**

णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबधेण भते ! कस्स कम्मस्स उदएण ? गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाणनिण्हवणाए णाणतराएण णाणप्पदोसेण णाणच्चासायणाए णाणविसवादणाजोगेण · · एव जहा णाणावरणिज्ज नवर दसणनाम घेत्तव्व।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ८ उ० ६, सू० ७५-७६

अर्थ—भगवन् ! किस कर्म के उदय से ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर का प्रयोगबंध होता है ?

गौतम ! ज्ञानी की शत्रुता करने से, ज्ञान को छिपाने से, ज्ञान मे विघ्न डालने से, ज्ञान मे दोष निकालने से, ज्ञान का अविनय करने

से, ज्ञान मे व्यर्थ का वाद-विवाद करने से ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव होता है। इन उपर्युक्त कार्यों मे ज्ञान के स्थान पर दर्शन व दर्शनी (साधु)का नाम जोडकर कार्य करने से दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव होता है।

इस सम्बन्ध मे आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे निम्न-लिखित पाठ दिया है—

तत्प्रदोषनिह्नवामात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो

—अ० ६, सू० १०

(३) वेदनीय

वेदनीय कर्म के दो भेद है—सातावेदनीय और असातावेदनीय उनमे से प्रथम असातावेदनीय का वन्धसम्बन्धी पाठ यह है—

परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्ट-णयाए परपरियावणयाए वहूण पाणाण जाव सत्ताण दुक्खणयाए सोय-णयाए जाव परियावणयाए एव खलु गोयमा ! जीवाण अस्सायावेय-णिज्जा कम्मा किज्जन्ते।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ७, उ० ६, सू० २८६

अर्थ—हे गौतम ! दूसरो को दु ख देने से, दूसरे को शोक उत्पन्न करने से, दूसरे को झुराने से, दूसरे को रुलाने से, दूसरो को पीटने से, दूसरो को परिताप देने से, वहुत से प्राणियो और जीवो को दु ख देने से, शोक उत्पन्न कराने आदि परिताप देने से जीव असातावेदनीय कर्म का आस्रव करते हैं।

इस सम्वन्धी तत्त्वार्थसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्यान्यसद्वेदस्य।

—अ० ६, सू० ११

सातावेदनीय सम्बन्धी पाठ

पाणाणुकपाए भूयाणुकपाए, जीवाणुकपाए सत्ताणुकपाए वहूण पाणाण जाव सत्ताण अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एव खलु गोयमा ! जीवाण सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जति । —भगवती श० ७, उ० ६, सू० २८६

अर्थ—हे गौतम ! प्राणो पर अनुकम्पा करने से, प्राणियो पर दया करने से, जीवो पर दया करने से, सत्त्वो पर दया करने से, वहुत-से प्राणियो को दु ख न देने से, शोक न कराने से, न झुराने से, न सताने से, न पीटने से, परिताप न देने से जीव सातावेदनीय कर्म का आस्रव करते है ।

तत्त्वार्थसूत्रगत पाठ

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग क्षान्ति शौचमितिसद्वेदस्य।
—अ० ६ सू० १२

(४) **मोहनीय कर्म**

मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद है। उनमे से पहले दर्शनमोहनीय के कारणो को कहते है—

पचहि ठाणेहि जीवा दुल्लभवोधियत्ताए कम्म पकरेति, त जहा—अरहताण अवन्न वदमाणे, अरहतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्न वदमाणे आयरियउवज्झायाण अवन्न वदमाणे, चउवण्णस्स सघस्स अवण्ण वदमाणे, विवक्कतववभचेराण देवाण अवन्न वदमाणे ।

—स्थानाग स्थान ५, उ० २, सू० ४२६

अर्थ—पाँच स्थानो के द्वारा जीव दुर्लभ वोधि (दर्शनमोहनीय) कर्म का उपार्जन करते है—अर्हन्त का अवर्णवाद करने से, अर्हन्त के

उपदेश दिये हुए धर्म का अवर्णवाद करने से, आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने से, चारो प्रकार के धर्म का अवर्णवाद करने से तथा परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारक देवो का अवर्णवाद[1] करने से।

तत्त्वार्थसूत्रगत पाठ

केवलिश्रुतसघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। — अ० ६, सू० १३

चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध सम्बन्धी पाठ

मोहणिज्जकम्मासरीरप्पयोग पुच्छा, गोयमा! तिव्वकोहयाए तिव्वमाणयाए तिव्वमायाए तिव्वलोभाए तिव्वदसणमोहणिज्जयाए तिव्वचारित्तमोहणिज्जाए।

—व्या० प्र० श० ८, उ० ६, सू० ३५१

अर्थ—(चारित्र) मोहनीय कर्म के शरीर का प्रयोग वध किस प्रकार होता है? गौतम! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शनमोहनीय से और तीव्र चारित्रमोहनीय से।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्बन्धित पाठ

कपायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य। —अ० ६, सू० १४

(५) आयुकर्म

आयु कर्म के नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चार भेद है। इनके प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अपने-अपने वध के कारण हैं। इनमे से नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव आयु वन्ध के कारणो के पाठो का सकेत कर सामान्यत सभी आयुओ के वध के कारण का पाठ उद्घृत करते हैं।

---

१ जो दोप न हो, उनका भी होना वतलाना, निन्दा करना अवर्णवाद है।

नरकायु वन्ध के कारण

चउहिं ठाणेहि जीवा णेरतियत्ताए कम्म पकरेति, त जहा—महारम्भताते, महापरिग्गहयाते पचिदियवहेण कुणिमाहारेण ।

— स्थानाग० स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

अर्थ—जीव चार प्रकार से नरकायु का वध करते हैं—वहुत आरम्भ करने से, वहुत परिग्रह करने से, पचेन्द्रिय जीव के वध से और (मृतक) मास का आहार करने से ।

तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ—

वह्वारंभपरिग्रहत्व नारकस्यायुष ।

—अ० ६, सू० १५

तिर्यचआयु के वध के कारण—

चउहिं ठाणेहि जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्म पगरेति, त जहा—माइल्लताते, णियडिल्लताते, अलियवयणेण, कूडतूलकूडमाणेण ।

—स्थानाग० स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

अर्थ—चार प्रकार से जीव तिर्यच-आयु का वध करते हैं—छल-कपट से, छल को छल के द्वारा छिपाने से, असत्य भापण से और कम तौलने व नापने से ।

तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ

माया तैर्यग्योनस्य ।

—अ० ६, सू० १६

मनुष्यायु के वध के कारण

चउहिं ठाणेहि जीवा मणुस्सत्ताते कम्म पगरेति त जहा—पगतिभद्दताते, पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते ।

— स्थानाग० स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

वेमायाहि सिक्खाहि जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेति माणुस जोणिं कम्मसच्चाहु पाणिणो॥

—उत्तराध्ययन सू० अ० ७, गा० २०

अर्थ—चार प्रकार से जीव मनुष्यायु का बध करते है—उत्तम स्वभाव होने से, स्वभाव मे विनय होने से, स्वभाव मे दया होने से, स्वभाव मे ईर्ष्याभाव न होने से।

जो प्राणी विविध शिक्षाओ द्वारा उत्तम व्रत ग्रहण करते है, वे प्राणी शुभ कर्मो के फल से मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का पाठ

अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य। स्वभाव मार्दवञ्च।

—अ० ६, सू० १७, १८

देवगति के बध के कारण

चउहिं ठाणेहि जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेति त जहा—सराग सजमेण, सजमासजमेण, बालतवोकम्मेण, अकामणिज्जराए।

—स्थानाग० स्थान ४, उ० ४, सू० ३७३

वेमाणियावि जइ सम्मदिट्ठीपज्जतसखेज्जावासाउयकम्मभूमिग गब्भवक्कतियमणुस्सेहिंतो उववज्जति कि सजतसम्मद्दिट्ठीहिंतो असजयसम्मद्दिट्ठीपज्जत्तएहिंतो सजयासजयसम्मदिट्ठीपज्जत्त सखेज्जाहितो उववज्जति? गोयमा! तीहिंतोवि उववज्जति एव जाव अच्चुगो कप्पो।

—प्रज्ञापना, पद ६

अर्थ—चार प्रकार से जीव देवायु का बध करते है—सराग सयम से, सयमासयम से, बालतप से और अकामनिर्जरा से।

यदि वैमानिक देवो मे सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक सख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिक, गर्भज मनुष्य उत्पन्न हो तो क्या सयत सम्यग्दृष्टियो

से, असयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तको से, सयतासयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक सख्यात वर्ष की आयु वालो मे से उत्पन्न होते है ?

हे गौतम ! तीनो मे स ही अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्र के तत् सम्बन्धी पाठ

सरागसयमसयमाऽसयमाऽकामनिर्जराबालतपासि दैवस्य ।

सम्यक्त्व च । —अ० ६ मू० २०-२१

साधारणत चारो आयु के बध का कारण

एगतवाले ण मणुस्से नेरइयाउयति पकरेइ, तिरियाउयपि पकरेइ, मणुस्साउयपि पकरेइ देवाउयपि पकरेइ ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १, उ० ८, मू० ६३

अर्थ—एकान्तबाल (बिना शील और व्रत वाला) मनुष्य नरकायु भी बाँधता है, तिर्यंच आयु भी बाधता है, मनुष्य आयु भी बाधता है और देवायु का भी बध करता है ।

तत्त्वार्थसूत्र में तत् सम्बन्धी सूत्र

नि शीलव्रतत्व च सर्वेषाम् ।

—अ० ६ सू० १६

(६) नाम कर्म

नामकर्म के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। दोनो के बधकारणो सम्बन्धी पाठ यह है—

सुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा ! कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसवादणजोगेण सुभनामकम्मा सरीरजावप्पयोगबन्धे, असुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा !

कायअणुज्जययाए जाव विसवायणाजोगेण असुभनामकम्मा जाव पयोगबधे ।

—व्याख्याप्र० श० ८ उ० ६

अर्थ—शुभ नामकर्म का शरीर किस प्रकार प्राप्त होता है ?

हे गौतम ! काय की सरलता से, मन की सरलता से, वचन की सरलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति न करने से शुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगबध होता है ।

अशुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगबध किस प्रकार होता है ?

इसके विपरीत काय, मन तथा वचन की कुटिलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति करने से अशुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगबध होता है ।

तत्त्वार्थसूत्र के तत् सम्बन्धी पाठ

इनमे पहले अशुभ नामकर्म के बध के अनन्तर शुभ नामकर्म के बध का कारण सकेत किया गया है—

योगवक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्न । तद्विपरीत शुभस्य ।

—अ० ६, सू० २२, २३

नामकर्म मे तीर्थङ्कर नाम का विशिष्ट स्थान है । अत उसके बध के भी विशिष्ट कारण हैं । वे विशेष कारण क्रमश इस प्रकार वर्णित किये गये हैं ।

अरहत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य तेसि अभिक्खणाणोवओगे य ॥१॥
दसण विणए आवस्सए य सीलव्व ए निरइयार ।
खण लव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥

अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहि कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥३॥

—ज्ञाताधर्म० अ० ८ सू० ६४

अर्थ—अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, प्रवचनभक्ति, स्थविर (आचार्य)-भक्ति, वहुश्रुतभक्ति, तपस्वी-वत्सलता, निरन्तर ज्ञान मे उपयोग रखना, दर्शन का विशुद्ध रखना, विनय सहित होना, आवश्यको का पालन करना, अतिचाररहित शील और व्रतो का पालन करना, ससार को क्षणभगुर समझना, शक्ति अनुसार तप करना, त्याग करना, वैयावृत्य करना, समाधि करना, अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करना, शास्त्र मे भक्ति होना, प्रवचन मे भक्ति होना और प्रभावना करना—इन कारणो से जीव तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध करता है ।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्वन्धित सूत्र

दर्शनविशुद्धिर्विनयसपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-सवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यवहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ।

—अ० ६ सू० २४

(७) गोत्रकर्म

गोत्रकर्म के नीच और उच्च ये दो भेद है । उनमे से पहले नीचगोत्र के वध कारणो का अनन्तर उच्चगोत्र के वन्ध कारणो का निर्देश करते हैं—

नीचगोत्र

जातिमदेण कुलमदेण वलमदेण जाव इस्सरियमदेण णीयागोयकम्मा सरीर जाव पयोगवन्धे ।

—व्याख्या० श० ८, उ० ६ सू० ३५१

अर्थ—जाति के मद से, कुल के मद से, वल के मद से तथा अन्य मदो सहित ऐश्वर्य के मद से नीच गोत्रकर्म के शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।

उच्चगोत्र

जातिअमदेण कुलअमदेण वलअमदेण रूवअमदेण तवअमदेण सुयअमदेण लाभअमदेण इस्सरियअमदेण उच्चागोयकम्मा सरीरजाव पयोगबधे।

—व्या० प्र० श० ८, उ० ६, सू० ३५१

जाति, कुल, वल, रूप, तप, विद्या, लाभ और ऐश्वर्य का घमड न करने से उच्च गोत्रकर्म के शरीर का प्रयोगवन्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के नीचगोत्र और उच्चगोत्र बन्ध सम्बन्धी पाठ

परात्मनिन्दाप्रशसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।

—अ० ६, सू० २५, २६

(८) अन्तराय कर्म

दाणतराएण लाभतराएण भोगतराएण उवभोगतराएण वीरयतराएण अतराइयकम्मा सरीरप्पयोगवन्धे।

—व्या० प्र०, श० उ० ६, सू० ३५१

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे विघ्न करने से अन्तराय कर्म के शरीर का प्रयोगबध होता है।

तत्त्वार्यसूत्र का सम्बन्धित पाठ

विघ्नकरणमन्तरायस्य।

—अ० ६ स० २७

विशेष—यहाँ आगम सूत्रो और तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रो द्वारा आठ कर्मों के वन्ध के विशेप कारणो का उल्लेख किया गया है। इन पाठो मे तथा कर्मग्रथो मे प्रदर्शित कारणो मे समानता और असमानता प्रतीत होने का कारण यह है कि कारणोल्लेख मे मुख्यरूप मे आगम सूत्रो का, कही उनके आशय का अवलवन लेकर ग्रथकारो ने अपनी-अपनी भापा-शैली, वाक्य विन्यास, प्रयत्नलाघव आदि द्वारा वन्ध के कारणो को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसे कथन-शैली की भिन्नता समझा जाए। लेकिन मूल उद्देश्य और आशय तो आगमो के आधार से कर्मों के बध कारणो का उल्लेख करना ही है। अत. भाषा-शैली का भेद प्रतीत होने पर भी उसमे मौलिक भेद नही समझना चाहिए। चूँकि कर्म विपयक वर्णन का मूल आधार तो आगया ही है।



कर्मसाहित्य-विषयक समान-असमान मन्तव्य

सामान्यत कर्म की वन्ध, उदय-उदीरणा और सत्ता की स्थिति एव गुणस्थानो, मार्गणाओ मे कर्मों के वध आदि के सम्वन्ध मे सैद्धान्तिको, कर्मग्रथकारों और श्वेताम्वर-दिगम्वर आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रंथो के विषय-प्रतिपादन मे अधिकाश समानता दृष्टिगोचर होती है। यदि कथचित् भिन्नता भी है तो वह जिज्ञासा की दृष्टि से कर्मविपयक गहन अध्ययन और मनन के लिए ग्राह्य मानकर 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध के निकष पर परीक्षायोग्य है।

श्वेताम्वर एव दिगम्वर कर्मग्रथो मे जीव शब्द की व्याख्या, उपयोग का स्वरूप, केवलज्ञानी के विषय मे सज्ञित्व तथा असज्ञित्व का व्यवहार, वायुकायिक शरीर की ध्वजाकारता, छाद्मस्थिक के उपयोगो का कालमान, भावलेश्या सम्बन्धी स्वरूप, दृष्टान्त आदि, चौदह मार्गणाओ का अर्थ, सम्यक्त्व की व्याख्या, क्षायिक सम्यकत्व, केवली मे द्रव्यमन का होना, गर्भज मनुष्यो की सख्या के सूचक उन्तीस अक, इन्द्रिय मार्गणा मे द्वीन्द्रिय आदि का और कायमार्गणा मे तेजस्काय आदि का विशेषाधिकत्व, वक्रगति मे विग्रह की सख्या, गुणस्थान मे उपयोग की सख्या, कर्मबध के हेतुओ की मख्या दो, चार, पाँच होना, सामान्य तथा विशेष वन्धहेतुओ का विचार— के विपय समान रूप से प्राप्त होते हैं। दोनो की वर्णन शैली समान है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय हैं, जिनमे कुछ अशो मे भिन्नता होते हुए भी अधिक अशो मे समानता है।

इसके साथ ही कतिपय कथनो मे भिन्नताएँ भी है, जिनका सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रकृतिभेद—इसमे प्रकृति शब्द के दो अर्थ किये गये हैं-(१) स्वभाव और (२)समुदाय। श्वेताम्बर कर्म साहित्य मे उक्त दोनो ही अर्थ पाये जाते हैं[1] परन्तु दिगम्बर साहित्य मे प्रकृति शब्द का स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। जैसे—'प्रकृति स्वभाव' प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।[2] 'पयडी सीले सहावो'[3] इत्यादि।

पद का प्रमाण—जिस शब्द के अन्त मे विभक्ति आई हो या जितने भाग मे अर्थ की समाप्ति हो, उसे पद कहते हैं। लेकिन पदश्रुत मे पद का मतलव ऐसे पद से नही है, साकेतिक पद से है। आचाराग आदि आगमो का प्रमाण ऐसे ही पदो से गिना जाता है। कितने श्लोको का यह साकेतिक पद माना जाता है, तादृश सप्रदाय के नष्ट हो जाने से इसका पता नही चलता है, यह कही टीका मे लिखा है और कही यह भी लिखा मिलता है कि प्राय ५१,०८,८६,८४० श्लोको का एक पद होता है।

---

१ प्रकृतिस्तु स्वभाव स्याद् ज्ञानवृत्यादि कर्मणाम्।
यथा ज्ञानाच्छादनादि स्थिति कालविनिश्चय ॥
—लोकप्रकाश, सर्ग १०, श्लोक १३७

ठिइववदलस्स ठिइ पएस वधो पएसगहणच।
तणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइवधो ॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्वभाव अर्थ मे अनुभाग वध का मतलव कर्म की फलजनकशक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता मंदता से ही है, परन्तु समुदाय अर्थ मे अनुभाग वध मे कर्म की फलजनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मदता इतना अर्थ विवक्षित है।

२ तत्त्वार्थ सूत्र अ० ८, सूत्र ३, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक टीका।

३ गोम्मटसार कर्मकाड गा० ३

दिगम्बर साहित्य मे भी पदश्रुत मे पद शब्द का साकेतिक अर्थ लिया गया है। आचाराग आदि का प्रमाण ऐसे ही पदो से उसमे भी माना गया है। परन्तु उसमे यह विशेषता देखी जाती है कि जहाँ श्वेताम्बर साहित्य मे पद के प्रमाण के सम्बन्ध मे सब आचार्य आम्नाय का विच्छेद दिखाते हैं, वहाँ दिगम्बर साहित्य मे पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। वहाँ १६३४ करोड ८३ लाख ७ हजार, ८८८ अक्षरो का एक पद माना है[1] जो बत्तीस अक्षरो का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरो के ५१,०८,८४,६२१॥ प्रमाण होते हैं।

इस प्रमाण मे तथा श्वेताम्बर साहित्य मे कही-कही बताये गये पद प्रमाण के सम्बन्ध मे एकवाक्यता ही प्रतीत होती है।

मन पर्यायज्ञान का ज्ञेय (विषय)—इस सम्बन्ध मे दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले मे लिखा है कि मन पर्यायज्ञानी मन पर्याय ज्ञान से दूसरो के मन मे अवस्थित पदार्थ—चिन्त्यमान पदार्थ को जानता है और दूसरे उल्लेख मे कहा है कि मन.पर्याय ज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नही होता, किन्तु विचार करने के समय मन की जो आकृतियाँ होती है, उन्ही का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बर साहित्य[2] का है और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य[3] का है।

---

१ गोम्मट सार, जीव काड गाथा ३३५। २ सर्वार्थसिद्धि टीका पृ० १२४, राजवार्तिक पृ ०४८—गोम्मटसार जीवकाड गा० ४३७-४४७।

३ तत्त्वार्थ०, अ०१, सूत्र२४ टीका। आवश्यक गा०७६ की टीका। विशेषावश्यक भाष्य पृ० ३९०, गा० ८१३-८१४। लोकप्रकाश स० ३, श्लोक ८४९ से।

अवधिज्ञान और मन पर्याय ज्ञान की उत्पत्ति—इसके सम्बन्ध मे दिगम्बर साहित्य मे जो उल्लेख है, वह श्वेताम्बर साहित्य मे देखने मे नही आया है।

अवधिज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दिगम्बरीय साहित्य का मतव्य यह है कि अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्ही प्रदेशो से होती है, जोकि शख आदि शुभ चिह्न वाले अगो मे वर्तमान होते हैं। मन पर्यायज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशो मे होती है, जिनका सम्बन्ध द्रव्यमन के साथ है, अर्थात् द्रव्यमन का स्थान हृदय ही है, अर्थात् हृदय भाग मे स्थित आत्मा के प्रदेशो मे ही मन पर्यायज्ञान का क्षयोपशम है।[1]

द्रव्यमन—इसके लिए जो कल्पना दिगम्बर साहित्य मे है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे नही है। दिगम्बर साहित्य मे इस प्रकार कहा गया है—द्रव्यमन हृदय मे ही है। उसका आकार आठपत्र वाले कमल का-सा है। वह मनोवर्गणा के स्कन्धो से बनता है। उसके बनने मे अन्तरगकारण अगोपागनामकर्म का उदय है।[2]

मिथ्यात्व मोहनीय के तीन भेद—मिथ्यात्व मोहनीय के तीन भेदो—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र—की कल्पना के लिए श्वेताम्बर साहित्य मे कोदो के छाछ से धोये और भूसे से रहित शुद्ध (सम्यक्त्व) भूसे सहित और न धोये हुए अशुद्ध (मिथ्यात्व) और कुछ धोये हुए और कुछ न धोये हुए मिले को अर्धविशुद्ध (मिश्र) माना है। लेकिन दिगम्बर साहित्य मे चक्की से दले हुए कोदों मे मे जो भूसे के साथ हैं वे अशुद्ध (मिथ्यात्व), जो भूसे से बिलकुल रहित है, वे शुद्ध (सम्यक्त्व)

---

१ गोम्मटसार, जीवकाड, गाथा ४४२,
२ गोम्मटसार जीवकाड गाथा ४४१

और कण (अर्द्ध विशुद्ध—मिश्र) माने गये है और प्राथमिक उपशम सम्यक्त्व परिणाम (ग्रंथिभेदजन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते हैं, उसे चक्की स्थानीय माना गया है।[1]

कषायो की उपमा—कर्मग्रन्थ मे और गोम्मटसार जीवकाड गाथा २८६ मे कषायो को जिन-जिन पदार्थों की उपमा दी गई है, वे सब एक-से ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि गोम्मटसार मे प्रत्याख्याना-वरण लोभ के लिए शरीर के मैल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ मे काजल की उपमा दी है।

अपवर्त्य आयु—कर्मग्रन्थ गाथा २३ की व्याख्या मे अपवर्त्य आयु का स्वरूप बताया गया है। जिसमे इस मरण को अकाल मरण कहा गया है और गोम्मटसार कर्मकाड गाथा ५७ मे 'कदलीघात मरण' कहा है। यह 'कदलीघात' शब्द अकाल मृत्यु के अर्थ मे अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नही होता है।

आठ कर्मों का क्रम—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के कथन क्रम की उत्पत्ति श्वेताम्बर ग्रन्थ पचसग्रह की टीका, कर्मविपाक की टीका, जयसोमसूरिकृत टब्बा और जीवविजयजीकृत बालावबोध मे इस प्रकार बताई है—

उपयोग, यह जीव का लक्षण है। इसके ज्ञान और दर्शन, ये दो भेद है। उनमे ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से ही किसी शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई लब्धि प्राप्त होती है, तब जीव ज्ञानोपयोग युक्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय होती है। अत ज्ञान के आवरणभूत कर्म—ज्ञानावरण का कथन सबसे

---

१ गोम्मटसार, कर्मकाड, गाथा २६

पहले किया गया है। दर्शन की प्रवृत्ति जीवो के ज्ञान के अनन्तर होती है, इसी से ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण कर्म का कथन किया गया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनो कर्मों के तीव्र उदय से दु ख का तथा इनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है, इसलिए उन दोनो के बाद वेदनीय कर्म का कथन किया गया है। वेदनीय कर्म के अनन्तर मोहनीय कर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुख वेदने के समय अवश्य ही राग-द्वेष का उदय हो आता है। मोहनीय के अनन्तर आयु कर्म का पाठ इसलिए है कि मोह व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बध करता ही है। जिसको आयु का उदय हुआ, उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने ही पड़ते हैं। इसी को बताने के लिए आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीच गोत्र का विपाक भोगना पडता है, इसी से नाम के बाद गोत्र कर्म का कथन है। उच्च गोत्र वालो को दानान्तराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीच गोत्रविपाकी जीवो को दानान्तराय आदि का उदय रहता है—इसी आशय को बताने के लिए गोत्र के पश्चात् अन्तराय कर्म का निर्देश किया गया है।

दिगम्बर ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे अष्ट कर्मों के कथन-क्रम-विषयक उपपत्ति लगभग पूर्वोक्त जैसी है। परन्तु जानने योग्य बात यह है कि अन्तरायकर्म घाती होने पर भी सबसे पीछे अर्थात् अघाति-कर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मो की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नही करता तथा उसका उदय नाम आदि अघाति कर्मो के निमित्त से होता है तथा-वेदनीय कर्म अघाति होने पर भी उसका पाठ घाति कर्म के बीच इस-

लिए किया गया है कि वह घाति कर्म की तरह मोहनीय कर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है।

कर्मप्रकृतियो के नाम विषयक—दोनो परम्पराओ मे अष्ट कर्म की प्रकृतियो के नाम लगभग समान ही है। कुछ नाम ऐसे हैं, जिनके लिए किंचित् परिवर्तन देखा जाता है—

श्वेताम्वर	दिगम्बर
सादि सस्थान	स्वाति सस्थान
कीलिका सहनन	कीलित सहनन
सेवार्त सहनन	असप्राप्तासृपाटिक सहनन
ऋषभनाराच सहनन	वज्रनाराच सहनन

कर्म प्रकृतियो की परिभाषा विषयक—श्वेताम्वर और दिगम्वर कर्म साहित्य मे कर्म प्रकृतियो की परिभाषाओ मे अधिक अशो मे समानता है। दोनो मे कुछ एक प्रकृतियो की परिभाषा मे जो भिन्नता दिखती है, उनके नाम और परिभाषाएँ क्रमश इस प्रकार है—

[अग्रिम पृष्ठ पर देखिए]

क्रम	प्रकृतिनाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१.	अनादेय नामकर्म	जिसके उदय से जीव के वचनादि सर्वमान्य न हो, अर्थात् हितकारी वचनो को भी लोग प्रमाण रूप न माने और अनादर करे।	जिसके उदय से शरीर मे प्रभा न हो।
२.	अस्थिर नामकर्म	जिस कर्म के उदय से सिर, हड्डी, दाँत, जीभ, कान आदि अवयवो मे अस्थिरता आती है, चचल रहे।	जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु स्थिर न रहे और थोडा-सा भी कष्ट न सहा जा सके।
३	अशुभ नामकर्म	जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव पैर आदि अशुभ हो।	जिस कर्म के उदय से शरीर अवयव सुन्दर न हों।
४	आदेय नामकर्म	जिसके उदय से जीव के वचनादि सर्वमान्य हो, लोग प्रमाणभूत समझकर मानते हों और सत्कार करते हो।	जिसके उदय से शरीर प्रभायुक्त हो।

५. आनुपूर्वी नामकर्म	जिस कर्म के उदय से सम-श्रेणी से गमन करता हुआ जीव विश्रेणी गमन करके उत्पत्ति स्थान मे पहुँचे ।	जिसके उदय से विग्रह गति मे जीव का आकार पूर्व शरीर के समान वना रहे ।
६ गति नामकर्म	जिसके उदय से जीव को मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायो की प्राप्ति हो ।	जिसके उदय से जीव भवान्तर को जाता है ।
७ जुगुप्सा	जिसके उदय से जीव को गदी वस्तुओ पर घृणा या ग्लानि हो ।	जिसके उदय से जीव अपने दोष छिपावे और पर के दोष प्रकट करे ।
८ निद्रा (दर्शनावरण)	जिसके उदय से हल्की नीद आये, सोता हुआ जीव जरा-सी आवाज मे उठाया जा सके ।	जिसके उदय से जीव चलता-चलता खडा रह जाए और गिर जाए ।
९ निर्माण नामकर्म	अगोपागो को अपने अपने स्थान पर व्यवस्थित करना ।	इसके स्थान-निर्माण और प्रमाण निर्माण-ऐसे दो भेद करके इनका कार्य अगोपागो को यथा-स्थान व्यवस्थित करने के उपरान्त

क्रम	प्रकृति नाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
			उनको प्रमाणोपेत बनाना भी माना है।
१०	परघात नामकर्म	जिसके उदय से दूसरे बलवानो के द्वारा भी अजेय हो।	जिसके उदय से दूसरो का घात करने वाले शरीर के अवयव उत्पन्न हो। दाढो मे विप आदि हो।
११	प्रचला	जिसके उदय से खडे-खडे या बैठे-बैठे नीद आये।	जिसके उदय से जीव कुछ जागता और कुछ सोता-सा रहे।
१२.	प्रचला-प्रचला	जिसके उदय से मनुष्य को चलते-चलते भी नीद आये।	जिसके उदय से सोते मे जीव के हाथ-पैर भी चले और मुँह से लार भी गिरे।
१३	यश कीर्ति नामकर्म	जिसके उदय से दान, तप आदि जनित यश फैले। अथवा एक दिशा मे फैलनेवाली ख्याति को यश और सर्वदिशाओ मे मिलने वाली ख्याति को कीर्त्ति कहते हैं।	जिसके उदय से ससार मे यश फैले और गुणो का कीर्तन हो।

१४	शुभ नाम कर्म	जिस कर्म के उदय के नाभि के ऊपर के अवयव शुभ हो।	जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव रमणीय हो।
१५	सम्यक्त्व प्रकृति	जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत तत्व की श्रद्धा न करे।	जिस कर्म के उदय से सम्यग्-दर्शन मे चल, मलिन आदि दोप लगे।
१६	सम्यग्मिथ्यात्व	जिस कर्म के उदय से जीव के जिन धर्म मे न राग हो और न द्वेप हो।	जिसके उदय से जीव के तत्त्व और अतत्त्व श्रद्धानुरूप दोनो प्रकार के भाव हो।
१७	स्थिर नामकर्म	जिसके उदय से दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर रहे।	जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहे। जिससे उपसर्ग, तपस्या आदि अन्य कष्ट सहन किये जा सकते हे।
१८	शरीर के सयोगी भेद	पाचो शरीर सम्वन्धी बन्धन नाम कर्म के सयोगी भेद पन्द्रह होते है।	पाँचो शरीर के सयोगी भेद पन्द्रह होते है।

पृष्ठ २ पर आगत अष्ट महाप्रातिहार्यादि से सम्बन्धित चित्र ।

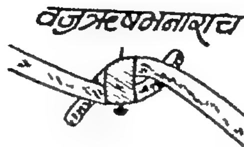
अष्ट महाप्रातिहार्य

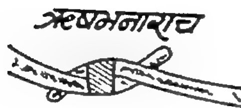


समवसरण

गाथा ३८ से ४० [पृष्ठ १२४ से १२७] मे सघयण एव सस्थान के ६-६ भेद वताये हैं। उनको स्पष्ट करने वाले चित्र देखिए—

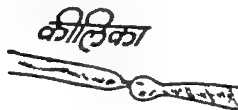
संघयण का चित्र









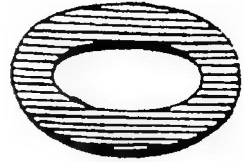




संस्थान का चित्र



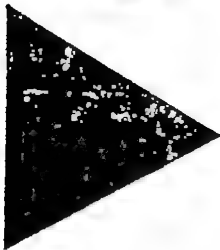
१ परिमंडल



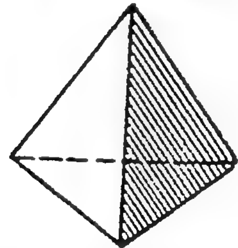


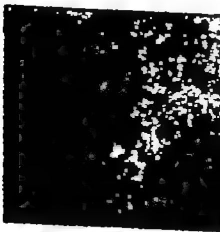
२.वृत्त



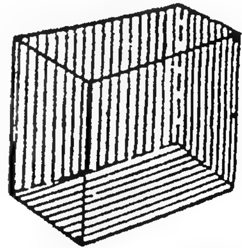


३.त्र्यंस्र



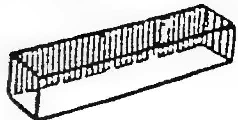


४.चतुरंस्र





५.आयत



श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

विशिष्ट-सदस्य

१ श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी सेठिया, मैसूर

२ श्री वच्छराज जी जोवराज जी सुराणा, सेला (सोजत-सिटी)

३ श्री रेखचन्द जी साहव राका, मद्रास (वगडी-नगर)

४ श्री वलवतराज जी खाटेड, मद्रास (वगडी-नगर)

५ श्री नेमीचन्द जी वाँठिया, मद्रास (वगडी-नगर)

६ श्री मिश्रीमल जी लूकड, मद्रास (वगडी-नगर)

७ श्री माणकचन्द जी कात्रेला, मद्रास (वगडी-नगर)

८ श्री रतनलाल जी केवलचन्द जी कोठारी, मद्रास (निम्बोल)

९ श्री अनोपचन्द जी किशनलाल जी वोहरा, अटपडा

१० श्री गणेशमल जी खीवसरा, मद्रास (पूजलू)

११ शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, चतर एण्ड कपनी, व्यावर

१२ शा० वस्तीमल जी वोहरा C/o सिरेमल जी घुलाजी, गाणो की गली उदयपुरिया वाजार, पाली

प्रथम-श्रेणी

१ मैं० वी सी ओसवाल, जवाहर रोड, रत्नागिरी (सिरियारी)

२ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर

३ शा० लादूराम जी छाजेड, व्यावर (राजस्थान)

४ शा० चम्पालाल जी डूगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)

५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावडिया)

६ शा० चादमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावडिया)

७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर बेंगलोर ११ (पुजलू)

८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, व्यावर

९ शा० वालचद जी रूपचन्द जी बाफना,
११८/१२० जवेरीवाजार वम्वई—२ (सादडी)

१० शा० वालावगस जी चम्पालाल जी वोहरा, राणीवाल

११ शा० केवलचन्द जी सोहनराज जी वोहरा राणीवाल

१२ शा० अमोलकचन्द जी धर्मीचन्द जी आच्छा, वडीकाचीपुरम् मद्रास, (सोजतरोड)

१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्राम (आगेवा)

१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादडी)

१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्राम (सेवाज)

१६ शा० सिमरतमल जी सखलेचा, मद्रास (वीजाजी का गुडा)

१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)

१८ शा० गूदडमल जी शातिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास

१९ शा० चम्पालाल जी नेमीचन्द, जवलपुर (जैतारण)

२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, व्यावर

२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड-मादलिया)

२२ शा० हीराचन्द जी लालचन्द जी चोका, नक्सावाजार, मद्रास

२३ शा० नेमीचन्द जी धर्मीचन्द जी आच्छा, चगलपेट, मद्राम

२४ शा० एच० घीसुलाल जी पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N A D T (वगटी-नगर)

२५ शा० गीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चागलपेट, मद्राम

२६ शा० अमोलकचन्द जी भंवरलाल जी विनायकिया, नक्शाबाजार, मद्रास
२७ शा० पी० बीजराज नेमीचन्द जी धारीवाल, तीरुवेलूर
२८ शा० रूपचन्द जी माणकचन्द जी बोरा, बुशी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, बुशी
३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा कुंभकोणम्, मद्रास
३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ शा० बच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजतसिटी
३४ शा० गेवरचन्द जी जसराज जी गोलेछा, बैंगलोरसिटी
३५ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी बब, बैंगरलोरसिटी
३६ शा० एम० मंगलचन्द जी कटारिया, मद्रास
३७ शा० मंगलचन्द जी दरडा C/o मदनलालजी मोतीलाल जी,
शिवराम पैंठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचन्द जी धारीवाल, N क्रास रोड, रावर्टसन पेठ, K G F
३९ शा० चम्पालाल जी प्रकाशचन्द जी छलाणी न० ५७ नगरथ पैंठ, बैंगलूर-२
४० शा० आर विजयराज जागडा, न० १ क्रासरोड, रावर्टसन पेट K G F
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी, रविवार पैंठ ११५३, पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पोट-मार्केट, सिकन्द्राबाद—A P
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीलाल जी आच्छा, वालाजाबाद-मद्रास
४४ श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गांधीचौक रायचूर
४५ श्री बस्तीमल जी बोहरा C/o सीरेमल जी बुलाजी गाणो की गली उदय-
पुरिया बाजार, पाली
४६ श्री सुकनराज जी भोपालचन्द जी पगारिया, चिकपेट बैंगलोर—५३
४७ श्री विरदीचन्द जी लालचन्द जी मरलेचा, मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचन्द जी बोहरा, मद्रास (बर)

४६ श्री भवरलाल जी जवरचन्द जी दूगड, कुरडाया

५० शा० मदनचन्द जी देवराज जी दरडा, १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट मद्रास १

५१ शा० सोहनलाल जी दुगड, ३७ कालाती पीले-स्ट्रीट, साहुकार पेट, मद्रास-१

५२ शा० धनराज जी केवलचन्द जी, ५ पुडुपेट स्ट्रीट, आलन्दुर, मद्रास १६

५३ शा० जेठमल जी चोरडिया C/o महावीर ड्रग हाऊस न १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वां क्रोस आरकाट श्रीनीवासचारी रोड, पो० ७६४४, बेंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्रर कुमार जी गुलावचन्द जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उतमचन्दजी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A

५६ शा० एच० एम० काकरिया २६६, O P H रोड बेंगलोर १

५७ शा० सन्तोकचन्द जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू वाजार न० १६ श्रीनीवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५६ मदनलाल जी राका (वकील) व्यावर

६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी राका व्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जागडा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६६ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्तार-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचन्द जी आनन्दकुमार जी राका C/o जोहरीलाल जी नेमीचन्द जी जैन, वापुजी रोड, सलूरपेठ (A P)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुडुपेट मद्रास २

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचन्द जी श्रीश्रीमाल, व्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचन्द जी सकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचन्द जी नम्बरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचन्द जी रातडिया, रावर्टसनपैठ
५ श्री वगतावरमल जी अचलचन्द जी खीवसरा ताम्वरम्, मद्रास
६ श्री छोतमल जी सायवचन्द जी खीवसरा, वौपारी
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भडारी, नीमली
८ श्री माणकचन्द जी गुलेछा, व्यावर
९ श्री पुखराज जी वोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचन्द जी वोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चडावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, विलाडा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत मारवाड जक्शन
१४ श्री रतनचन्द जी शान्तीलाल जी मेहता, सादडी (मारवाड)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भडारी, विलाडा
१६ श्री चम्पालाल जी नेमीचन्द जी कटारिया, विलाडा
१७ श्री गुलावचन्द जी गभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जि० थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भवरलाल जी गौतमचन्द जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचन्द जी राका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री सतोकचन्द जी जवरीलाल जी जामड,
१४६ वाजार रोड, मदरानगतम

२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्

२३ श्री धरमीचन्द जी ज्ञानचन्द जी मूथा, वगडीनगर

२४ श्री मिश्रीमल जी नगराज जी गोठी, विलाडा

२५ श्री दुलराज इन्दरचन्द जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदलीस्ट्रीट, मद्रास-१

२६ श्री गुमानलाल जी मागीलाल जी चौरडिया चिन्तावरी पैठ मद्रास-१

२७ श्री मायरचन्द जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१

२८ श्री जीवराज जी जवरचन्द जी चौरडिया, मेडतासिटी

२९ श्री हजारीमल जी निहालचन्द जी गादिया, १६२ कोयम्बतूर, मद्रास

३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली

३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आछा, मु० कावेरी पाक

३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर

३३ श्री चम्पालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना

३४ श्री मागीलाल जी शकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-११

३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजाररोड रायपेठ मद्रास-१४

३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम

३७ शा० रामसिह जी चौधरी, ब्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुडा

३९ शा० सपतराज जी चौरडिया, मद्रास

४० शा० पारसमल जी कोठरी, मद्रास

४१ शा० भीकमचन्द जी चौरडिया, मद्रास

४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे

४३ शा० जव्वरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, ब्यावर

४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादीया, लाविया

४५ श्री सेंसमल जी धारीवाल, वगडीनगर (राज०)

४६ जे० नौरतमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१

४७ उदयचन्द जी नोरतमल जी मूथा
c/o हजारीमल जी विरवीचन्द जी मूथा, मेवाडी वाजार व्यावर

४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)

४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-वाजार रोड, मद्राम

५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, वम्वई-३

५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, वेंगलोर

५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजेड़, मद्रास

५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११

५४ श्री चान्दमल जी लालचन्द जी ललवाणी, मद्रास-१४

५५ श्री लालचन्द जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयोलूर

५६ श्री सुगनराज जी गौतमचन्द जी जैन, तमिलनाडु

५७ श्री के० मागीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६

५८ श्री एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२

५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, वैंगलूर-१

६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी साखला, तीरुवल्लुर

६१ श्री पुकराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावडिया

६२ श्री भवरलाल जी प्रकाशचन्द जी वग्गाणी, मद्रास

६३ श्री रूपचन्द जी वाफणा चडावल

६४ श्री पुखराज जी रिखवचन्द जी राका, मद्रास

६५ श्री मानमल जी प्रकाशचन्द जी चोरडिया, पीचियाक

६६ श्री भीखमचन्द जी शोभागचन्द जी लूणिया, पीचियाक

६७ श्री जैवतराज जी सुगनचन्द जी वाफणा, वेंगलोर (कुशालपुरा)

६८ श्री घेवरचन्द जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इमाली

६९ शा० नेमीचदजी कोठारी न० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास १

७० शा० मागीलालजी सोहनलालजी रातडीया C/o नरेन्द्र एथर्टरी कम स्टोर चीकपेट, वेगलोर ४

७१ शा० जवरीलालजी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६

७२ शा० लुमचन्दजी मगलचन्दजी तालेडा अशोका रोड मैसूर

७३ शा० हसराजजी जसवन्तराजजी सुराणा मु० पो० सोजत सिटी

७४ शा० हरकचन्दजी नेमीचन्दजी मनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक महाराष्ट्र)

७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलो का वास मु० पो० जालोर

७६ शा० वी० सजनराजजी पीपाडा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)

७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे न० ४५८६७७/१४१ भवानी शकर रोड वीसावा विल्डिग दादर वोम्बे न० २८

७८ शा० मिश्रीमलजी वीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)

७९ सा० कीसोरचन्दजी चादमलजी सोलकी C/o K C Jain 14 M C Lain II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53

८० शा० निरमलकुमारजी मागीलालजी खीवसरा ७२ घनजी स्ट्रीट पारसीगली, गनपत भवन, वम्बई ३

८१ श्रीमती मोरमबाई धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास

८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरतावाद हैदरावाद ५००००४ (A P)

८३ शा० सुगालचन्दजी उतमचन्दजी कटारीया रेडीलस मद्रास ५२

८४ शा० जवरीलालजी लुकड (कोटडी) C/o घमडीराम सोहनराज अन्ड क० ४८६/२ रेवडी वाजार अहमदावाद २

८५ शा० गोतमचन्दजी नाहटा (पीपलीया) न० ८, वाटु पलीयार कोयल स्ट्रीट साहुकार पेट, मद्रास १

८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलका वेंगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्वतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्द्रावाद (A P)

८९ शा० एम० पुकराजजी अण्ड कम्पनी क्रास वाजार दूकान न० ९, कुनूर (नीलगिरी)

९० सा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलकी मु० पोस्ट राणा वाया पाली (राजस्थान)

९१ सा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/० लक्ष्मी इलक्ट्रीकल्म न० ९५ नेताजी सुभाषचन्द रोड मद्रास १

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचन्द जी कर्णावट, जोधपुर

२ श्री गजराज जी भडारी, जोधपुर

३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी वोहरा, व्यावर

४ श्री लालचन्द जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन

५ सुमेरमल जी गावी, सिरियारी

६ श्री जवरचन्द जी वम्व, सिन्धनूर

७ श्री मोहनलाल जी चतर, व्यावर

८ श्री जुगराज जी भंवरलाल जी राका, ब्यावर
९ श्री पारसमाल जी जवरीलाल जी धोका, सोजत
१० श्री छगनमल जी चम्नीगल जी बोहरा, ब्यावर
११ श्री चनणमल जी थानमल जी सीवसरा, मु० बांपागी
१२ श्री पन्नालाल जी भवरलाल जी लनवाणी, बिलाडा
१३ श्री अनराज जी लिखमीचन्द जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचन्द जी जागड, बिलाडा
१६ श्री चम्पालाल जी धरमीचन्द जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचन्द जी शान्तिलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचन्द जी गुन्देचा, सोजतरोड
१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी साकरिया, साडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखबाजी साकरिया, साडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचन्द जी बरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मागीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजतरोड
२३ श्री मोहनलाल जी गाधी, केसरसिंह जी का गुडा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी बोकडिया, पाली
२६ श्री चान्दमल जी हीरालाल जी बोहरा, ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचन्द जी भवरलाल जी डक, मारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, साडेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, साडेराव
३१ श्री नेमीचन्द जी शातिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणदमल जी सीसोदिया, इन्द्रावड

३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूकड, विग-वाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उडीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी वुधमल जी कोठारी, वाजार स्ट्रीट, मन्डिया
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी कॉंकरिया, मद्रास (मेडतासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिवचन्द जी गाँधी, केसरसिंह जी का गुडा
३९ श्री अनराज जी वादलचद जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसीग जी ढावरिया, गुलावपुरा
४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, वगडीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचद जी काठेड व्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचन्द जी खीवसरा, वैंगलौर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरडिया, मद्रास
४७ शा० अमरचन्द जी नेमीचन्द जी पारसमल जी नागौरी, मद्रास
४८ शा० वनेचन्द जी हीराचन्द जी जैन, सोजतरोड, (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मागीलाल जी गूदेचा, मोजतरोड (पाली)
५० श्री जयन्तीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादडी
५१ श्री गजराज जी भडारी एडवोकेट, वाली
५२ श्री मागीलाल जी रैंड, जोधपुर
५३ श्री ताराचन्द जी वम्ब, व्यावर
५४ श्री फतेहचन्द जी कावडिया, व्यावर
५५ श्री गुलावचन्द जी चोरडिया, विजयनगर
५६ श्री सिघराज जी नाहर, व्यावर
५७ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहवाज

५८ श्री मीठालाल जी पवनकवर जी कटारिया, सहवाज

५९ श्री मदनलाल जी सूरेन्द्रराज जी ललवाणी, विलाडा

६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचन्द जी मकाणा, व्यावर

६१ श्री जुगराज जी मम्पतराज जी वोहरा, मद्राम

६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)

६३ श्री वकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादडी (मारवाट)

६४ श्री मै० चन्दनमल पगारिया, औरगाबाद

६५ श्री जवतराज जी मज्जनराज जी दुगड, कुरडाया

६६ श्री वी० भवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा)

६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकला

६८ श्री आर० प्रसन्नचन्द चोरडिया, मद्रास

६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्रावाद

७० श्री मुकनचन्द जी चादमल जी कटारिया, इलकल

७१ श्री पारसमल जी कातीलाल जी वोरा, इलकल

७२ श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी जैन (पाली) वैंगलूर

७३ शा० जी० एम० मङ्गलचन्दजी जैन (मोजतसिटी) C/० मङ्गल टेक्स-टाईलस २६/७८ फर्स्ट फ्लोर मूलचन्द मारकेट गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

७४ श्रीमती रतनकवर धर्मपत्नी शातीलालजी कटारीया C/० पृथीराजजी प्रकाशचन्दजी फतेपुरीयो की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० मगराज जी रूपचदजी खीवसरा C/o रूपचद-विमलकुमार पो० पेरमपालम, जिला चगलपेट

७६ सा० माणकचदजी भवरीलाल जी पगारीया C/o नेमीचद मोहनलाल जैन १७ विन्नी मिल रोड वेगलौर ५३

७७ शा० ताराचद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई वाजार जोधपुर (महामन्दिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भडारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचदजी पोकरणा १६ गोडाऊन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचदजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचद जैन—४०३।७ बाजार रोड रेडीलस—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० बोरून्दा वाया पीपाड सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहार C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६५ चीकपेट, बेंगलोर ५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचद नथमल जैन० No ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—बेंगलोर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी ममदरीया सामराज पेट न० ९८।७ कीरोस रोड, बेंगलोर १८

८५ शा० मगलचदजी नेमीचदजी वोहरा C/o भानीराम गणेममल एन्ड सस H० ५६ खलास पालीयम बेगलोर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरीया जी० १२९ मीलरोड बेंगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचदजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन, सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचदजी भीगी (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—हेदरगुटा ३।६।२९४।२।३ हैदराबाद (A P)

८९ शा० गणेशमलजी लालचन्दजी पीतलीया C/o हीराचद हस्तीमल १।८।६५ चीकडपली हैदराबाद ५०००२० (A P)

९० शा० जे० बीजेराजजी कोठारी डबल्यु पचास कीचयालेन काटन पेट बेगलोर—५३

९१ शा० बी० पारसमलजी मोलकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९२ शा० कुसालचदजी रीखवचदजी मुराणा ७२६ सदरबजार बोलारम (आ० प्र०)

९३ शा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खीवसरा मु० पो० बोपारी वाया राणावास

९४ शा० पारसमलजी डक (सारन) C/o सायवचदजी पारसमल जैन म० न० १२।५।१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्रावाद (A P.)

९५ शा० सोभाचन्दजी प्रकाशचदजी गुगलीया C/o जुगराज हीराचद एन्ड क० मन्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभारानीजी राका C/o भवरलालजी राका मु० पो० ब्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलालजी राका मु० पो० ब्यावर

९८ शा० जम्बुकुमार जैन दालमील भैरो बाजार बेलनगज आगरा—४

९९ शा० सोहनलालजी-मेडतीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

☆०—०☆